9437

जैन भारती

वर्ष 50 • अंक 12 • दिसंबर, 2002

जैन भारती
वर्ष 50 • अंक 2 • फरवरी, 2002

जैन भारती
वर्ष 50 • अंक 3-4-5 • मार्च-मई, 2002

जैन भारती
वर्ष 50 • अंक 6 • जून, 2002

जैन भारती
वर्ष 50 • अंक 7 • जुलाई, 2002

जैन भारती
वर्ष 50 • अंक 8 • अगस्त, 2002

जैन भारती
वर्ष 50 • अंक 9 • सितंबर, 2002

जैन भारती
वर्ष 50 • अंक 10 • अक्टूबर, 2002

जैन भारती
वर्ष 50 • अंक 11 • नवंबर, 2002

With best compliments from :

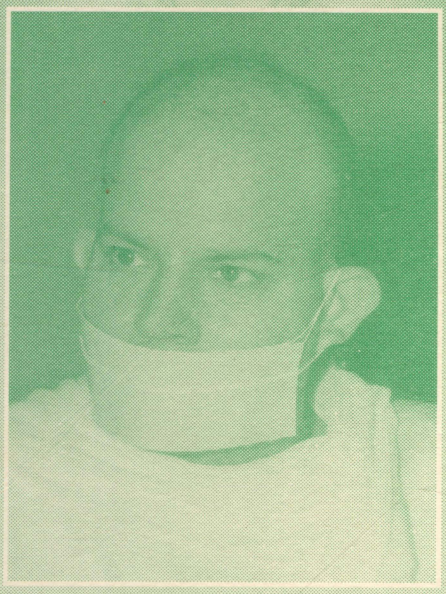

AMIT®
A CHOPRA PRODUCT
Mfg: Art Silk Sarees & Dress Material

AMIT-SYNTHETICS

Shop : W-3207, Surat Textile Market
Office : 402, Anand Market, Ring Road
SURAT 395002
Phone : 622076, 625680, 622027 Fax : 0261-636651

PEMCHAND CHOPRA CHARITABLE TRUST
W-3207, Surat Textile Market
Ring Road, SURAT

●

JHAMKUDEVI CHOPRA CHARITABLE TRUST
11-A,B, Sai Ashish Society
Udhaua Magdalla Road, SURAT

शुभू पटवा
मानद संपादक
•
बच्छराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

दिसंबर, 2002 • वर्ष 50 • स्वर्ण जयंती वर्ष • अंक 12 • रु. 15.00

विमर्श

9
डॉ. छगन मोहता
मनुष्य : गरुत्मान नरपशु

14
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
विद्युत् : सचित्त या अचित्त

20
साध्वी सरलयशा
अहिंसा : आगम के आलोक में

24
डॉ. बच्छराज दूगड़
भाषा और हिंसा

•

आवरण
खेराज

अनुभूति

31
डॉ. जिनेन्द्र जैन
भक्ति : जैन धर्म और कबीर

36
कहानी
शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय
प्रकाश और छाया

46
कविता
तुलसीरमण की कविताएं

प्रसंग

5
शुभू पटवा
मानवीय सद्भाव और एकता

शीलन

49
मुनि प्रशांतकुमार
भीतर हैं शक्ति के अक्षय स्रोत

53
चीनी लोककथा
संपादन : छ्येन युङमिङ
दादा की सीख

संपादकीय पता : संपादक, जैन भारती, भीनासर 334403, बीकानेर • फोन : 2270305, 2202505
प्रकाशकीय कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401
प्रधान कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001.
सदस्यता शुल्क : वार्षिक 125/- रुपये • त्रैवार्षिक 350/- रुपये • दसवर्षीय 1000/- रुपये

जब कहा जाता है कि जगत पदार्थों से भरा है, तो असल में यह कहा जाता है कि पदार्थ छोटे हों या बड़े, सब सीमित हैं। अनेक होने का मतलब ही सीमित होना है। प्रत्येक पदार्थ की सीमा है। वह कुछ स्थान घेरता है, कुछ समय तक बना रहता है। पदार्थमात्र देश और काल की सीमा से घिरे हैं। जिसे हम स्थान कहते हैं या देश कहते हैं वह अनंत बिंदुओं का संघातमात्र ही तो है। कोई भी पदार्थ ले लीजिए। वह अनेक टुकड़ों से बना है। टुकड़े की परिकल्पना कीजिए। छोटा, और भी छोटा, और भी छोटा—'छोटा' की कोई सीमा है? बरसों सोचते रहिए, और भी छोटा, और भी छोटा। समाप्त नहीं होगा। गणित का पंडित कहता है, किसी वस्तु को अनंत से विभाजित करने पर वह शून्य हो जाता है। परंतु सचमुच क्या शून्य हो जाता है? यह तो मनुष्य की हार है, बुद्धि की असमर्थता है कि और भी छोटा, और भी छोटा सोचते-सोचते वह 'शून्य' पर पहुंच जाता है। सो जगत में जो कुछ भी दिख रहा है, वह अनंत शून्यों का संघात है! और काल की बात भी सोचिए। जो आने वाला है और जो बीत गया, दोनों कभी थे या होंगे, इसका कोई सबूत है? प्रत्यक्ष तो केवल एक क्षण है। हम सिर्फ एक क्षण को जानते हैं। परंतु क्षण वह छोटे-से-छोटा है। कल्पना कीजिए, हम जिस वर्तमान को प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं वह कितना है। एक क्षण। और भी छोटा, और भी छोटा, और भी छोटा—कुछ नहीं, शून्य! अर्थात् काल भी अनंत शून्यों का संघात है। वह एक प्रतीतिमात्र है। सो यह जो कुछ स्थान और काल के रूप में दिख रहा है वह कुछ नहीं है। दादू ने कहा था—'कुछ नाहीं का नाम दे, भरमा यह संसार!' भरम ही तो रहा है यह संसार। जो कुछ नहीं है, उसका कुछ नाम दे देता है और जब नाम दे देता है, तो उसका अर्थ भी समझने लगता है। जरा सोचिए कि किसी वस्तु का अनंतवां भाग क्या सचमुच शून्य है? 'अनंत' और 'शून्य' मनुष्य की बुद्धि की पराजय के सूचक हैं, भाषा में चलने वाले कामचलाऊ शब्द हैं। नहीं तो कैसा अनंत और कैसा शून्य!

—हजारीप्रसाद द्विवेदी

बहुत दिनों के बाद कोई किसी में दोष बताए तो प्रायश्चित्त का भागी वही है; जो दोष बताता है। जिसने दोष किया हो, उसे याद हो तो, उसे प्रायश्चित्त करना ही चाहिए।

बहुत दिनों के बाद जो दोष बताए उसकी बात कैसे मानी जाए? उसकी बात में सचाई हो तो ज्ञानी जाने, परंतु व्यवहार में उसका विश्वास नहीं होता।

जो दोषों को इकट्ठा करता है, वह अन्यायवादी है। जब आपस में प्रेम होता है तब तो उसके दोषों को छिपाता है और प्रेम टूटने पर दोषों की गठरी को खोल फेंकता है, उस व्यक्ति का विश्वास कैसे हो? वह विपरीत-बुद्धि है।

दोष बताने वाला ही दोषी नहीं है, उसे सुनने वाला भी दोषी है। सुनने वालों का कर्तव्य क्या होना चाहिए?

कोई गृहस्थ साधु-साध्वियों के स्वभाव या दोष के संबंध में कुछ बताए तो श्रोता उसे यह कहे कि मुझे क्यों कहते हो, या तो उसी को कहो या गुरु को कहो, जिससे प्रायश्चित्त देकर उसे शुद्ध करें। गुरु को नहीं कहोगे तो तुम भी दोष के भागी हो, तुममें भी वक्रता है। मुझे कहने का अर्थ क्या होगा? यह कहकर उस झमेले से अलग हो जाएं, उस पंचायत में न फंसें।

'भिक्षु विचार दर्शन' से

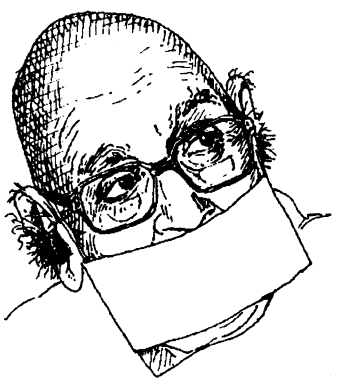

मनुष्य दुष्प्रवृत्ति क्यों करता है? उसकी वह बुरी प्रवृत्ति किस प्रेरणा की परिणति है? इस रहस्य का उद्घाटन करते हुए भगवान महावीर के शाश्वत स्वरों में अनुगूंज उठी—अपने वर्तमान जीवन को सुख-संपदा से परिपूर्ण देखने की अबूझ चाह मनुष्य को दुष्प्रवृत्ति की ओर ले जाती है। आत्मस्थापन की मनोवृत्ति भी एक ऐसा हेतु है, जो करणीय, अकरणीय भेद-विज्ञान को समाप्त कर देता है। पूजा, प्रतिष्ठा और सम्मान की कामना में उलझा हुआ व्यक्ति भी ऐसी प्रवृत्ति कर बैठता है, जो दूसरों के लिए पीड़क और घातक प्रमाणित होती है। उसकी इच्छा-तरंगें जिस दिशा में उच्छ्वसित होती हैं, वहां स्वार्थ, भय और प्रलोभन की संज्ञा पुष्ट हो जाती है। सुविधावादी मनोवृत्ति में उलझने वाला अपने विवेक के चिराग को बुझाकर तिमिस्रा के अपरंपार सागर में बह जाता है, जहां इच्छाओं और आकांक्षाओं के विस्तार से सुख पा लेने का उसका अक्षत विश्वास तार-तार हो जाता है। आत्मविश्वास चुक जाने के बाद व्यक्ति का मंजिल की ओर बढ़ता हुआ कदम भी थम जाता है और वहां व्याप्त हो जाता है बिखराव और टूटन से भरा बोझिल वातावरण।

—आचार्यश्री तुलसी

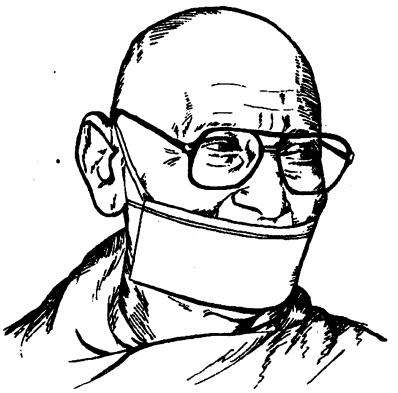

विवेक का अर्थ है—दो चीजों को अलग करना, तोड़ना। जो मिला हुआ है उसे विभक्त करते चले जाना। यही हमारी सारी साधना पद्धति का आदि से अंत तक महत्त्वपूर्ण अंग है। विवेक से चलना है और विवेक तक पहुंचना है। शरीर, मन, भाषा, श्वास, सूक्ष्म शरीर और संस्कार—इन सबका विवेक करना है, इन सबको छोड़ देना है। यह है हमारे विवेक की बात। अब प्रश्न होता है कि विवेक कैसे करें? विवेक का पहला बिंदु होता है—सम्यक् दर्शन या अंतर्दृष्टि का निर्माण। अंतर्दृष्टि के निर्माण का नाम है विवेक। इससे हमारी यह दृष्टि सुदृढ़ हो जाती है कि शरीर हमारा अस्तित्व नहीं है। जो शरीर है, वह हम नहीं हैं। शरीर हमारे अस्तित्व से भिन्न वस्तु है। शरीर और अस्तित्व की भिन्नता का जो बोध होता है, वह सम्यक् दर्शन है।

प्रश्न होता है कि विवेक की साधना कैसे हो? श्वास की साधना विवेक की साधना का पहला बिंदु है। जो व्यक्ति श्वास की साधना करने लग जाता है, वह श्वास की साधना करते-करते उस स्थिति में पहुंच जाता है कि शरीर अलग पड़ा है और मैं कहीं अलग पड़ा हूं। आप श्वास को होंठ पर नाक के नीचे देखें और मन को केंद्रित करें। आधा घंटा, एक घंटा, दो घंटा, समय लगाते चलिए एक साथ में और कुछ भी नहीं करना है, जप-ध्यान आदि भी नहीं करना है, माला नहीं फेरनी है, केवल श्वास पर मन को केंद्रित करना है। आपको ऐसा लगेगा कि कोई चीज अलग हो रही है और मैं अलग हो रहा हूं। लंबे समय के अनुभव के बाद यह बात स्पष्ट हो जाती है। हमारी आत्मा और हमारा स्थूल व्यक्तित्व—इन दोनों को जोड़ने वाला है श्वास। मन चला जाता है, वाणी चली जाती है, स्थूल शरीर चला जाता है, फिर क्या रहता है? श्वास!

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

जैन भारती
दिसंबर, 2002

प्रसंग

मानवीय सद्भाव और एकता

वर्ष 2002 इस दृष्टि से बड़ा विषादभरा गुजरा। विश्व की बात एक बार छोड़कर, भारत के संदर्भ में ही यदि देखें तो महावीर, बुद्ध, गांधी और अणुव्रत प्रवर्तक आचार्यश्री तुलसी की धरती पर मानवीय सद्भाव और एकता की काया इस वर्ष जिस तरह छलनी होती रही उससे यह लगने लगा कि आखिर इस देश का भविष्य क्या यूं चौपट हो जाएगा ? एक सवाल यह था, तो एक प्रयास इस दिशा में भी सबल रूप में उभरा कि इस तरह इस देश की मानवीय एकता और सद्भाव को छलनी नहीं होने दिया जाएगा। ये प्रयास कितने सुदृढ़ रहे या आधे-अधूरे—इस प्रकार का मूल्यांकन वाणिज्यिक संस्थान करें तो करें, बुनियादी मुद्दों को टटोलने वाले नहीं किया करते। वे अपने कदमों की इस हेतु समीक्षा तो करते हैं और नीर-क्षीर भी कि उनके अगले कदम पहले से अधिक मुस्तैदी से उठें।

इसलिए अब, जब वर्ष 2002 बीत रहा है तो ऐसी समीक्षा और नीर-क्षीर उन सबके लिए आवश्यक है जो भारत को विषादभरी घुटन से बचाना चाहते हैं। मानवीय स्वभाव में अक्सर यह देखा जाता है कि वह अपनी गलतियों को छिपाता है और अस्वीकार भी करता है। इस प्रवृत्ति के दुष्परिणाम भी भुगतने पड़ते हैं, पर यह भी मानवीय दुर्बलता ही है कि चाहे कितना ही भुगत लेना पड़े, अपनी दुर्बलताओं से मुक्त होने के प्रयास नहीं होते। होते भी हैं यदि तो अधकचरे, बेमन से। ऐसे प्रयासों के परिणाम भी आधे-अधूरे ही निकलते हैं जो अंततः समस्याओं के शमन की बनिस्बत उन्हें बनाए रखने में ही सहायक होते हैं।

अतः जब हम अपनी समीक्षा अथवा आत्म-मंथन करें तो यह जरूरी हो जाता है कि गलतियां न छिपाई जाएं, न अस्वीकार की जाएं। हमें महावीर का यह कथन सदैव स्मरण रहना चाहिए, महावीर कहते हैं—'बीयं तं न समायरे : गलती को दोहराओ मत।' गलती तभी बार-बार होती है जब उसे छिपाया या अस्वीकार किया जाता है। दरअसल 'स्वीकार' ही समीक्षा की शुरुआत है। अपने किए को स्वीकार कर लेने का मतलब ही यह है कि हम समीक्षा के लिए, आत्म-मंथन के लिए तैयार हैं।

अक्सर हमारी बहुत-सी गलतियों में अधीरता का खासा योगदान होता है। अपने सामान्य कार्य-कलापों की ओर यदि दृष्टिपात किया जाए तो पाएंगे कि अपने दैनंदिन में ही हम कई बार अधीर हो उठते हैं। यद्यपि ऐसी अधीरता से प्रयोजन सिद्धि पर कोई प्रभाव कभी नहीं पड़ता, अलबत्ता हमारी मनोग्रंथियां अवश्य प्रभावित हो जाती हैं और इसके नतीजे भी देखने को मिलते ही हैं। यहां हमें फिर महावीर सतर्क करते हैं। भगवान महावीर कहते हैं—'दुक्खेण पुट्ठे धुयमाइएज्जा : संकट के समय, कठिनाइयां आने पर धैर्य धारण करो।' दरअसल हमारे स्वभाव की दृढ़ता की परीक्षा ऐसे ही क्षणों में होती है। जब संकट या कठिनाई आ उपस्थित होती है तो हम कितने सहिष्णु रह पाते हैं— हमारे स्वभाव का परीक्षण ऐसी ही घड़ियों में होता है। यदि हमारी सहिष्णुता विखंडित नहीं हुई है और यदि हमने धैर्य से परिस्थितियों को समझने का प्रयास किया है तो कठिनाइयों या संकट के समय उठने वाला हमारा कदम समीचीन होगा, सम्यक् होगा।

हमारे समक्ष एक उदाहरण है। पिछले वर्ष (संभवतः दिसंबर में ही) आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने अपनी 'अहिंसा यात्रा' की घोषणा की। राजस्थान के बीदासर से प्रस्थान कर वे आगे बढ़ रहे थे। अहिंसा-यात्रा के ऐलान के समय 'गुजरात हादसा' नहीं हुआ था। विषमता और विषाद की घटनाएं तो आए दिन घटित होती ही थीं। खून की नदियां बहने से ही जिनको हिंसा का तांडव नजर आता हो, आचार्यश्री महाप्रज्ञजी उनमें नहीं हैं। अतः हिंसा जिस तरह और जितने रूपों में दिखाई देती है, उनकी दृष्टि से ओझल नहीं हो सकती है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने कहा भी

है—'एक दिन भारतीय लोग प्रत्यक्षानुभूति की दिशा में गतिशील थे। अब वह वेग अवरुद्ध हो गया है। आज का भारतीय मानस परोक्षानुभूति से प्रताड़ित है। वह बाहर से अर्थ का ऋण ही नहीं ले रहा है, चिंतन का ऋण भी ले रहा है। उसकी शक्तिहीनता का यह स्वतःस्फूर्त साक्ष्य है। मेरी आदिम, मध्यम और अंतिम आकांक्षा यही है कि मैं आज के भारत को परोक्षानुभूति की प्रताड़ना से बचाने और प्रत्यक्षानुभूति की ओर ले जाने में अपना योग दूं।'

यह कथन स्वयं आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का है। यह 'गुजरात हादसे' से भी नहीं उपजा। ये विचार सन् 1968 में उनके अंतःमन से प्रकट हुए थे। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की अंतःआकांक्षा की थाह न ले सकने वालों ने 'गुजरात हादसे' के तुरंत बाद 'अहिंसा-यात्रा' का मुख मोड़ देने की सलाह दे डाली। वे क्या करते? 'अहिंसा-यात्रा' जिस लक्ष्य को लेकर उन्होंने शुरू की, 'गुजरात हादसे' से उसकी प्रासंगिकता अधिक घनीभूत हो गई। तब मुख कैसे मुड़ता? वे वहां पहुंचे। गुजरात में 4-5 मास का प्रवास उनका पूरा हुआ। इसकी फलश्रुति का हिसाब उन्होंने नहीं लगाया। वे लगाते भी क्यों, और जैसा हमने कहा—बुनियादी सवालों के मूल्यांकन वाणिज्यिक संस्थानों में होने वाले हिसाबी-किताबी मूल्यांकन की तरह नहीं होते, पर सजग समाज ने अवश्य समझा कि 'अहिंसा-यात्रा' के तात्कालिक और दीर्घकालिक परिणाम क्या हैं, होंगे। प्रसंग था सम्यक्-समीचीन कदम के लिए धैर्य व सहिष्णुता से सोचने का। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की 'अहिंसा-यात्रा' का उदाहरण हमने इसीलिए प्रस्तुत किया कि 'अहिंसा-यात्रा' के निर्णय के समय जब 'गुजरात हादसा' सामने नहीं रहा तो यह घटना होने-भर से यात्रा का मुख क्यों मोड़ लिया जाए? तात्पर्य यह कि कठिनाई व संकट के समय में ही हमारे मानसिक संतुलन का आकलन होता है।

आत्म-समीक्षा का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष हमारा 'मत' भी है। हमारा सिद्धांत क्या है, हम क्या 'मत' रखते हैं? आचार्यश्री महाप्रज्ञजी अपने दृष्टिकोण में एकदम स्पष्ट हैं। वे कहते हैं—'राजनीति का कार्य स्वतंत्रता देना नहीं है। राजनीति का कार्य है स्वतंत्रता को सीमित करना।' तभी तो गुजरात प्रवास में वे उन सभी से निर्द्वंद्व मिले जो अटूट भिन्न-मत रखते हैं। राजनीतिक टकराहटों से मानवीय एकता और सद्भाव को जिस तरह दूषित किया जा रहा है—वह किसी से छिपा नहीं, पर आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने बेलाग उन सबसे मुलाकातें कीं जो उन तक पहुंचे, क्योंकि वे अपने सिद्धांत पर दृढ़ थे। उनकी स्वतंत्रता किसी राजनीति की चेरी न थी। उनका तो मानना ही है कि व्यक्ति की इच्छा या अनिच्छा धर्म के क्षेत्र में ही मान्य है। इच्छा का स्वातंत्र्य धर्म की भाषा में स्पष्ट है, राजनीति की भाषा में इसका कोई मूल्य नहीं। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का मत स्पष्ट है—'धर्म के मूल सिद्धांतों को छोड़कर जो राजनीति चलेगी, वह ज्यादा टिक नहीं पाएगी।' अब यह बताने की जरूरत नहीं कि आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का 'धर्म' से क्या तात्पर्य है और वे किसे 'धर्म' मानते हैं।

हमारे सम्मुख इस तरह कई सूत्र हो सकते हैं जो अपनी समीक्षा अथवा आत्म-मंथन के लिए सामने रखे जा सकते हैं। ऐसा प्रक्षालन हमें इसलिए करना चाहिए कि मनुष्य के नाते हम अंततः विचारशील प्राणी हैं और मानवीय सद्भाव व एकता ही ऐसी जमीन है जिस पर हम टिके रह सकते हैं।

●

वर्ष 2002 **जैन भारती** के लिए **स्वर्ण जयंती वर्ष** रहा। वर्ष-भर की उपलब्धियों पर **जैन भारती** को संतोष है। भगवान महावीर के 2600वीं जयंती वर्ष के संपन्न होते-होते **अनेकांत विशेष** के रूप में **जैन भारती** ने अनेकांत-दर्शन के विविध पक्षों को उजागर करते हुए जो विशेषांक अपने पाठकों के हाथों में प्रस्तुत किया—उसकी सार्थकता सुधी पाठकों के पत्रों में झलकती है। इसी तरह वर्ष-भर के सभी अंकों पर भी हमें अपने पाठकों ने सराहना-भरे पत्र लिखे। और तो और, **प्रसंग** के अंतर्गत जो **विचार-बिंदु** हम उठाते रहे, उन पर भी लेखकों-पाठकों की प्रतिक्रियाएं और विचार हमें मिले। विद्वान लेखकों ने हमारे उठाए **विचार-बिंदुओं** को आगे बढ़ाने की तजवीज भी की और अलग-अलग स्तरों पर चर्चा-बहसें भी शुरू हुईं। यह सब हमें प्राप्त पत्रों से बराबर पता चलता रहा। किसी भी विचार और उसके संवाहक पत्र-पत्रिका के लिए ये सुखकर क्षण होते हैं और संपादक को भी अपने श्रम की सार्थकता इनमें प्रतीत होती है। यह तो होता ही है, साथ ही यह बोध भी कि ऐसे पत्र हमें अपने दायित्वों के लिए भी सजग करते हैं। अपने दायित्व हम भली प्रकार तभी पूरे कर सकते हैं जब हमारे सुधी पाठक, विद्वान लेखक और आलोचक हमें पहले से अधिक सहयोग करते रहें।

जैन भारती के **स्वर्ण जयंती वर्ष** की संपन्नता पर आप सभी से ऐसे ही उत्तरोत्तर सहयोग की अपेक्षा है। नए ईसवी वर्ष के आगमन पर इन्हीं मंगलकामनाओं के साथ—

— शुभू पटवा

विमर्श

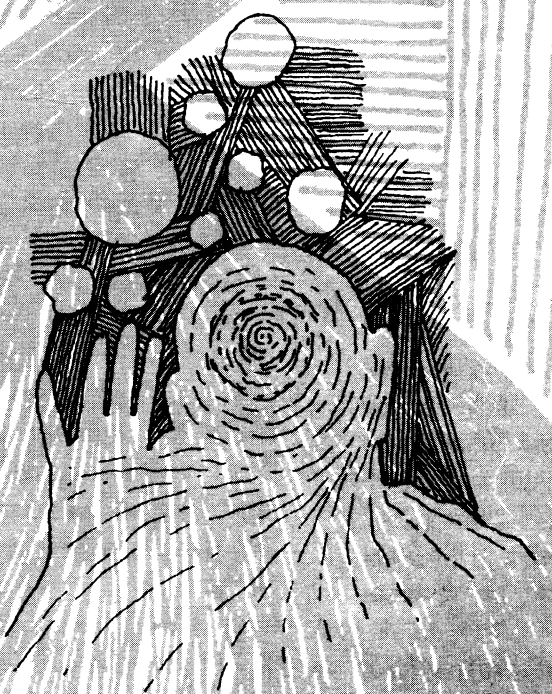

विशुद्ध और लोकातीत ज्ञान वैज्ञानिक ज्ञान से भिन्न वस्तु है, हालांकि वह इससे पृथक नहीं है। प्रत्येक विज्ञान अपने-अपने ढंग से एक विशिष्ट वस्तु-व्यवस्था में उस उच्चतर अपरिवर्तनीय सत्य के प्रतिबिंब को व्यक्त करता है, जिसका प्रत्येक वास्तविक वस्तु आवश्यक रूप से अंग है। वैज्ञानिक या विभेदात्मक ज्ञान हमें उच्चतर ज्ञान के लिए तैयार करता है। विज्ञान के आंशिक सत्य आत्मा के संपूर्ण सत्य से भिन्न हैं। वैज्ञानिक ज्ञान इसलिए उपयोगी है, क्योंकि यह मन को कष्ट देने वाले अंधकार को दूर करता है और यह अपने संसार की अपूर्णता को भली-भांति दिखा देता है और मन को एक ऐसी वस्तु के लिए तैयार करता है, जो स्वयं इससे ऊपर है। सत्य को जानने के लिए हमें आत्मा के रूपांतरण की, आध्यात्मिक दृष्टि के विकास की आवश्यकता होती है। अपनी साधारण आंखों से अर्जुन सत्य को देख नहीं पाया, इसलिए उसे दिव्य दृष्टि प्रदान की गई।

अस्तित्व के उच्चतर स्तरों पर आरोहण, उच्चतर आत्मा को प्राप्त करने के लिए अपना विलोप जिज्ञासा द्वारा अथवा ज्ञान की निष्काम लालसा द्वारा किया जा सकता है। यह जिज्ञासा मनुष्य को उसकी संकीर्ण सीमाओं से ऊपर उठा देती है और अस्तित्व के सार्वभौम सिद्धांतों के चिंतन में उसे आत्मविस्मृत बना देती है। अधिकार या यश के लिए ज्ञान प्राप्त करने की साधना हमें उतनी दूर नहीं ले जाती। यह साधना सत्य को प्राप्त करने के लिए की जानी चाहिए।

—राधाकृष्णन्

मनुष्य का धर्म ही मनुष्य का विज्ञान है और मनुष्य क्योंकि त्रिविधात्मक है इसलिए उसके धर्म के भी तीन स्तर हैं। देह-रक्षा और नस्ल-रक्षा उसका धर्म है तो सारे परिवेश के साथ संतुलन बनाए रखना भी उसका धर्म है। जो उसका धर्म है वही नैतिकता है और वही सदाचार है। इसीलिए हमारे यहां संस्कृत में कहावत है 'धर्मो रक्षति रक्षितः' आप धर्म की रक्षा करें, धर्म आपकी रक्षा करेगा। आप राजधर्म की रक्षा करें, राजधर्म आपकी रक्षा करेगा। आप लोकधर्म की रक्षा करें, लोकधर्म आपकी रक्षा करेगा। आप प्रकृति के स्वाभाविक धर्म की रक्षा करें, प्रकृति का स्वाभाविक धर्म स्वास्थ्य के रूप में आपकी रक्षा करेगा।

❑ डॉ. छगन मोहता ❑

मनुष्य : गरुत्मान नरपशु

मेरा ऐसा खयाल है कि कई शब्द गलत अनुवादित हो जाते हैं और उनसे कोई समस्या सुलझने के बजाय उलझने जैसी बन जाती है। अंग्रेजी में दों शब्द हैं 'मोरेलिटी' और 'ईथिक्स'। 'मोरेलिटी' शब्द बना है मुराल से जिसका हिन्दी अनुवाद होता है लोकाचार। और 'ईथिक्स' दर्शनशास्त्र की एक शाखा है और उसी को नैतिकता कहा है। मैं समझता हूं कि हमारी परंपरा में ज्यादा सही शब्द है। लोकाचार नैतिकता का पर्यायवाची नहीं हो सकता। वह सही अर्थों में उपयुक्त शब्द नहीं बनता और इसीलिए नैतिकता को भी मैं उपयुक्त शब्द नहीं मानता। जैसे हमारे देश में और संसार में अन्यत्र भी बहुपत्नी प्रथा है, कहीं बहुपति प्रथा भी है। अब ये लोकाचार हैं। इनका नैतिकता से कोई संबंध नहीं है। सही शब्द है सदाचार।

सदाचार क्या है? वह स्थाई होता है, सार्वदेशिक होता है, और सार्वकालिक होता है जबकि लोकाचार देश, काल और परिस्थिति के अनुसार बदलता रहता है। असली समस्या है सदाचार की और सदाचार वह आचरण है जिसके द्वारा सत्य को जाना, अनुभव किया और जीया जाता है। तो फिर प्रश्न यह खड़ा होता है कि सत्य क्या है? सत्य वह है जो भूत, भविष्य और वर्तमान—तीनों कालों में व्याप्त रहता है और तीनों कालों का अतिक्रमण भी करता है। इसीलिए सत्य कभी बदलता नहीं है और जो बदलता है वह सत्य नहीं है। हमारे देश में जो एक सूत्र लिखा गया है : 'सत्यमेव जयते नानृतम्'—जो 'अनृत' है वह बदलता है और बदलने वाले को ही 'अनृत' कहते हैं।

यह समस्या केवल मनुष्य की है। न पशुओं की समस्या है सदाचार और न देवताओं की। वह सारी समस्या मनुष्य के लिए ही है। बहुत वर्ष पहले बीकानेर में एक सूफी कव्वाल आए थे। उन्होंने अपनी एक कव्वाली में मनुष्य को परिभाषित करने की चेष्टा की थी। मुझे बड़ी मौजूं लगी। मनुष्य को संबोधित करते हुए उन्होंने कहा—

मैं खूब जानता हूं कि तुम कौन हो, क्या हो,
गर कुफ्र न होता तो मैं कहता कि खुदा हो।

यहां उन्होंने मनुष्य को परिभाषित किया कि यदि तुम्हारे अंदर कुफ्र नहीं होता तो मैं कह देता कि तुम खुदा हो। अबं कुफ्र क्या है? हमारी परंपरा बताती है कि जो बदलता है वह कुफ्र है और जो नहीं बदलता है वह खुदाई है। और मनुष्य इस सत्य और अनृत की ग्रंथि है। मनुष्य का जीवन इसीलिए आप एक तस्वीर की तरह समझने का खयाल करें तो आपने मिस्र के स्फिंक्स के कुछ नमूने देखे होंगे। पशु का शरीर है और मनुष्य का चेहरा है और दो तरफ पांखें हैं। इसको हम अपनी भाषा में कहें तो मनुष्य 'गरुत्मान नरपशु' है! गरुत्मान पांखों से उड़ने वाले को

कहते हैं। नर उसका चेहरा है और उसका शरीर पशु है। स्फिंक्स की तस्वीर में ये ही बातें पाई जाती हैं। उस हिसाब से मनुष्य एक त्रिविधात्मक इकाई है जिसकी एक विधा पशुत्व की है, दूसरी नरत्व की और तीसरी अतिक्रमित करने वाली, उड़ान भरने वाली, ऊपर निकल जाने वाली। प्रत्येक मनुष्य इस तरह से त्रिविधात्मक है। जहां पर सदाचार का, नैतिकता का प्रश्न है वहां पर यही एक बुनियादी सवाल है कि मनुष्य का कोई विज्ञान हो सकता है क्या? हमारी परंपरा यह बताती है कि सदाचार भी विज्ञान की एक शाखा है और जो मूल विज्ञान है वह मनुष्य का विज्ञान है। जिस तरह 'मेडिकल साइन्स' की एक शाखा 'हैल्थ और हाईजीन' है, दूसरी शाखा है 'शरीर विज्ञान', तीसरी शाखा 'शरीर विकृति विज्ञान' है जिसे हम 'पैथोलोजी' कहते हैं। इसी तरह 'निदान' उसकी चौथी शाखा है। इसी तरह 'आयुर्विज्ञान' की शाखा-प्रशाखाएं हैं। उसी तरह मानव विज्ञान की एक शाखा है सदाचार। विज्ञान वह है जिसका व्यवस्थित रूप से अध्ययन और प्रयोग किया जा सकता है। अगर उसमें क्रम और व्यवस्था नहीं है तो वह विज्ञान भी नहीं है।

मैंने कहा कि मनुष्य त्रिविधात्मक है। पहले मैं उसकी पशु विधा लेता हूं। पशु विधा वही है जो उसके शरीर की विधा है। शरीर की विधा की दो बुनियादी चीजें हैं : एक जिजीविषा और दूसरी भोगेषणा या आनंद प्राप्त करने की इच्छा। ये दो बुनियादी विधाएं मनुष्य में भी हैं और पशु में भी। अनुकूलता की भूख और जीवित रहने की लालसा दोनों में समान हैं। और इसीलिए हमारे पुराने नीतिकारों ने कहा है कि 'आहार, निद्रा, भय, मैथुन' ये चार क्रियाएं मनुष्य और पशु में समान हैं। मनुष्य और पशु का फर्क करने वाली जो चीज है उसे कहते हैं धर्म। आप आहार को लें। प्रत्येक पशु का आहार नियत है, प्रकृति से नियत है और वह उसके दांतों की बनावट से स्पष्ट हो जाता है। मांसभक्षी शेर, बिल्ली वगैरह के दांतों की बनावट बताती है कि ये मांसाहारी हैं। शाकाहारी के दांत और किस्म के होते हैं। और पशु प्रकृति की मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता। और उल्लंघन करता है तो वह अस्वस्थ हो जाता है। उसी तरह प्रत्येक पशु की कामाचार वृत्ति प्रकृति के द्वारा नियंत्रित है। प्रकृति के संपर्क में रहने वाले अच्छी तरह जानते हैं कि प्रत्येक पशु-पक्षी की एक नियमित मौसम होती है जिसमें उसकी कामवासना का उद्रेक होता है। लेकिन मनुष्य की ये दोनों बुनियादी पशुवृत्तियां अनियमित हैं और प्रकृति के द्वारा नियंत्रित नहीं हैं क्योंकि मनुष्य की अस्मिता है। वह स्वतंत्र है और पशु के अंदर अस्मिता अभिव्यक्त नहीं है और इसीलिए वह पूरी तौर पर प्रकृति पर निर्भर है, परतंत्र है। तो अस्मिता पैदा होना ही सदाचार का और असदाचार के बुनियादी सवाल का पैदा होना है। हजरत मोहम्मद ने एक उक्ति बड़ी सार्थक कही है कि संसारभर के इन्सानों में दो ही तरह के इंसान हैं। एक वे जिनको मैंने किताब दी है, दूसरे वे जिनको किताब नहीं मिली। जिनको किताब मिली है उनका फर्ज है कि किताब का पैगाम उन तक पहुंचाएं जिनको किताब नहीं मिली। हमारे यहां कहते हैं कि एक वे हैं जिनको शास्त्र उपलब्ध हैं और एक वे हैं जिनको शास्त्र उपलब्ध नहीं हैं। कुरान शरीफ भी शास्त्र है, बाइबिल भी शास्त्र है, गुरुवाणी, गुरुग्रंथ भी शास्त्र हैं। वेद भी शास्त्र हैं। इस तरह दुनिया में जहां भी पशु और इन्सान का फर्क होता है वो बजरिए किताब होता है और वह किताब पार्थिव शब्दावली से नहीं बनी है। उसे आसमानी आवाज कहते हैं। वो 'रेविलेशन' है। 'रेविलेशन' का मतलब यह होता है कि इस आकाश में ओतप्रोत भूताकाश है और उससे परे एक चित्ताकाश है—मानसिक आकाश जिसमें उस किताब का स्फुरण होता है और भूताकाश में उसका स्पंदन होता है और वो स्पंदन जिसको सुनाई देता है वह व्यक्ति ऋषि हो जाता है, मुनि हो जाता है, पैगंबर हो जाता है, पीर हो जाता है, औलिया हो जाता है। और वह इस बात के लिए पैगाम देता है कि काम और जिजीविषा की इन बुनियादी पशुवृत्तियों को मर्यादित करो, सीमित करो। यह सीमित करना ही पहला कदम है। मनुष्य को और इसको परिमित करना और सीमित करना। उसका मतलब है कि चाहे जो-कुछ मत खाओ, चाहे जिस वक्त मत खाओ, चाहे जो मत पीओ, चाहे जिस वक्त मत पीओ और उसी तरह कामाचार को मर्यादित करो। चाहे जिस समय पर और चाहे जिसके साथ नहीं। उसको सीमित करो। तो एक बुनियादी प्रश्न आ जाता है : क्यों सीमित करो? इसलिए कि पशुत्व से ऊपर उठकर दूसरे स्तर की या मनुष्यता की उपलब्धि प्राप्त करना।

तब सवाल यह उठता है कि यह मनुष्यता क्या है? नर कभी अकेला नहीं है, मनुष्य जीवन अकेला नहीं है। वह परस्पर एक-दूसरे पर निर्भर है, पारस्परिक है, दूसरे मनुष्यों पर निर्भर करता है, पशुओं पर निर्भर करता है, वृक्षों पर निर्भर करता है, प्रकृति पर निर्भर करता है। हवा पर, पानी पर, जमीन पर, गुरुत्वाकर्षण पर, प्रकाश पर, इन सब पर निर्भर करता है। और इसीलिए मनुष्य में मनुष्यता की सबसे बड़ी बात यह है कि मनुष्य कर्जदार है। जैसे ही अस्मिता पैदा हुई तो कर्जदार भी पैदा होता है। वह (मनुष्य) कुदरत का कर्जदार है, पांचों तत्त्वों का कर्जदार है, पर्यावरण का कर्जदार है, वृक्षों का कर्जदार है, पक्षियों का कर्जदार है,

और जिस समाज में पैदा होता है उसका वह कर्जदार है। एक संतुलन है जिसे आजकल पर्यावरण का संतुलन कहते हैं, उसको बनाए रखने का काम मनुष्य का है। वह कर्जदार है, वह ऋणी है, इसीलिए तो उसका सबसे बड़ा काम अपना ऋणमोचन है। कर्ज को उतारना ही मनुष्यता है और कर्ज को अदा करना ही फर्ज है। कर्ज नहीं है तो फर्ज नहीं है। 'ड्यू' का 'रिपेमेन्ट' ही 'ड्यूटी' है। तो प्रत्येक मनुष्य पर ड्यूटी कर्तव्य का भार है, ऋणभार है। वह ऋणभार मनुष्य से शुरू होता है। शरीर के लिए ऋणभार है मां और बाप का। इसके बाद ज्ञानोपार्जन हुआ है तो गुरुओं का, लेखकों का, विद्वानों का ऋणभार है जिनसे उसके मन और बुद्धि का विकास हुआ है। पहले को कहते हैं पितृऋण और दूसरे को कहते हैं ऋषिऋण। तीसरा ऋणभार है कुदरत या प्रकृति का, देवऋण जिसे कहते हैं, और चौथा ऋणभार है उसका जिसे भूतऋण कहते हैं अर्थात् गांव-मौहल्ले के कुत्तों का, गायों का, पक्षियों का, सबका ऋणभार है। गांव और चारों तरफ के परिवेश का भी कर्जदार है। उसका जाने-अनजाने हम पर कर्ज चढ़ता रहता है और उस कर्ज का फर्ज हमें उतारना है। 'ड्यू' को चुकाना है। इसे ही कर्तव्य—'ड्यूटी' कहते हैं और यह 'ड्यूटी' ही 'मोरेलिटी' है। ऋणमोचन ही नैतिकता है। मनुष्य पेटू हो सकता है पर पशु पेटू नहीं हो सकता। तो ये अतिरिक्त की जो भूख है वह पशुता की ओर ले जाने वाली है और उसे सदाचार के मार्ग से च्युत करने वाली है। अगर वो नियंत्रित है तो अपनी ऊर्जा का प्रयोग वह ऋणमोचन में करेगा। तो जिन मा-बांप से शरीर मिला है उनका ऋणमोचन है। जिन गुरुओं से विद्या मिली है उस परंपरा को कायम रखने के लिए बदले में दूसरों को विद्या दें। विद्यार्थी आपके पास उसी तरह आते हैं जिस तरह विष्णु बलि के यहां भीख मांगने के लिए गया था। गीता कहती है कि वह भी परमात्मा का एक अंश है और अंश के रूप में अंश ही आपसे ज्ञान की भीख मांगने आता है। पाठशाला के द्वार पर उसे भिक्षा देना आपका कर्तव्य होता है क्योंकि आप ऋणी हैं। ऋषिऋण-मोचन के लिए वह बहुत ही आवश्यक है। इसी तरह परिवेश को साफ-सुथरा रखने के लिए पानी को, हवा को, जमीन को निरंतर साफ-सुथरा रखना मनुष्य का फर्ज है। अगर फर्ज अदा नहीं करेगा तो वातावरण गंदा हो जाएगा। उसी तरह हम तमाम मनुष्य एक-दूसरे पर निर्भर हैं। हमारे ऊपर, सब पर राजऋण है। अगर राज्य रक्षा नहीं करे तो अराजकता फैल जाती है, गुंडागर्दी फैलती है। राजऋण चुकाने के लिए हम कर देते हैं। जहां से आजीविका लेते हैं वह हमारे पर ऋण है। इस ऋण को उतारने के लिए आवश्यक है कि जिस काम के लिए हमें नियुक्त किया गया है उसे ईमानदारी से करें। सारी गीता इस बुनियादी चीज पर टिकी हुई है। जब अर्जुन भागने लगा, तो कृष्ण ने उससे यही कहा कि अपनी 'ड्यूटी' को समझ। गृहस्थ है और क्षत्रिय है और युद्ध है तो तेरा क्षात्रधर्म क्या है? धर्म की जो धारणा है वह विज्ञान है। मनुष्य का धर्म ही मनुष्य का विज्ञान है और मनुष्य क्योंकि त्रिविधात्मक है इसलिए उसके धर्म के भी तीन स्तर हैं। देह-रक्षा और नस्ल-रक्षा उसका धर्म है तो सारे परिवेश के साथ संतुलन बनाए रखना भी उसका धर्म है। जो उसका धर्म है वही नैतिकता है और वही सदाचार है। इसीलिए हमारे यहां संस्कृत में कहावत है 'धर्मो रक्षति रक्षितः' आप धर्म की रक्षा करें, धर्म आपकी रक्षा करेगा। आप राजधर्म की रक्षा करें, राजधर्म आपकी रक्षा करेगा। आप लोकधर्म की रक्षा करें, लोकधर्म आपकी रक्षा करेगा। आप प्रकृति के स्वाभाविक धर्म की रक्षा करें, प्रकृति का स्वाभाविक धर्म स्वास्थ्य के रूप में आपकी रक्षा करेगा। हमारे यहां यह हजारों वर्षों की परंपरा से चला आने वाला एक बहुत महत्त्वपूर्ण प्रयोग है और इसको विज्ञान की तरह से रखा गया है। जिस तरह मनुष्य एक त्रिविधात्मक इकाई है उसी तरह यह ब्रह्मांड भी त्रिविधात्मक इकाई है। वह पूर्ण है—'टोटेलिटी' और मनुष्य उसी का एक विशिष्ट—पर्टिकुलेरिटी—अंश है। इसीलिए हमारे यहां एक सूत्र है कि जो ब्रह्मांड में है वही पिंड में है और जो पिंड में है वही ब्रह्मांड में है। ब्रह्मांड को कहते हैं 'मेक्रोकाज्म' और पिंड को कहते हैं 'माइक्रोकाज्म'। तो मनुष्य पिंड में जो बातें हैं वही ब्रह्मांड में हैं। और मनुष्य पिंड की यह विशेषता है कि वह ब्रह्मांड के स्थूल और सूक्ष्म सभी स्पंदनों को ग्रहण करने की क्षमता रखता है और उन तक अपनी इच्छाओं और संकल्पों को संप्रेषित करने की भी क्षमता रखता है। लेकिन मनुष्य की देह है, वह इतनी दक्ष और संस्कारित नहीं है, और इसीलिए उसका उचित प्रशिक्षण नहीं है। यहां पर, इस जगह पर सारी ध्वनियां मौजूद हैं जो टी.वी. पर आप को दिखाई और सुनाई पड़ती हैं। अगर एक सैट है और उसका बिजली के करंट से संपर्क स्थापित कर दिया जाए तो करंट तो शक्ति देगा उसमें और 'ट्यूनिंग' आपको प्रॉपर वेव लैंथ पर लगा देगा ताकि दूसरी वेव लैंथ को छानकर एक कार्यक्रम सुनाई भी देगा और दिखाई भी देगा। इसी तरह ब्रह्मांड से संबंध कायम करने का भी एक सैट है और वह है मनुष्य का शरीर। लेकिन अब तक 'प्रॉपर ट्यूनिंग' हमें नहीं आता और उसके लिए 'नर्वस सिस्टम', 'प्रॉपर एनर्जी' इस्तेमाल करना हमें नहीं आता। मनुष्य का विज्ञान उसका इस्तेमाल करना बताता है। वह कहता है कि यह जो

नैतिकता है, सदाचार है, यह अंतिम नहीं है। यह मध्य की कड़ी है क्योंकि मनुष्य गरुत्मान नरपशु है। मनुष्य ने पशुत्व को मर्यादित कर लिया और इसे मर्यादित करने से वह 'पशुपति' हो गया यानी पशुत्व पर तो सवारी कर ली लेकिन नरत्व में नारायण होने की संभावना की मनुष्य ने अभी तक खोज नहीं की है। जिन लोगों ने की है, उनको हम महान, गुरु, सिद्ध पुरुष, संत, ऋषि, पीर, पैगंबर, औलिया आदि नामों से संबोधित करते हैं। तो उनके लिए भी 'मोरेलिटी' नहीं होती है। वे 'मोरेलिटी' को अतिक्रमित कर चुके हैं। इस कारण सदाचार के लिए उन्हें प्रयत्न नहीं करना पड़ता। वह उसी तरह प्रतिफलित होता है जिस तरह हम सांस ले रहे हैं। सांस अनायास चलती है, कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता। आंख अनायास बंद होती है और खुलती है, कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता। तो जो नरत्व का अतिक्रमण कर गए उनके लिए सदाचार नहीं है। पशु के सदाचार और पशु के आचरण का सवाल नहीं उठता क्योंकि वह प्रकृति के द्वारा मर्यादित है। इसलिए विधि और निषेध इन्सान के लिए हैं क्योंकि वह सामाजिक प्राणी है और उसके समाज का दायरा बहुत बड़ा है। सिर्फ मनुष्य जाति ही उसका समाज नहीं है। जिसे आज पर्यावरण कहते हैं वह सारा उसका समाज है। उसके साथ उसका आदान-प्रदान है, लेन-देन है। तो हमारे वेद का एक मीमांसा शास्त्र है, वह कहता है कि मनुष्य के सभी संबंधों के पीछे एक विज्ञान है—कर्म का विज्ञान। वह यह बताता है कि ये ऋणानुबंध हैं। जब जिंदगी शुरू होती है तो उस ऋण का लेन-देन शुरू हो जाता है, माता-पिता से और फिर आगे आकर वह फैलता जाता है। कारोबार चलता रहता है और जिंदगी चलती रहती है और यों करके जब खाता बेबाक हो जाता है, आदमी मृत हो जाता है। और जब तक खाता चालू है तब तक ये लेन-देन, ऋणानुबंध हैं। वह सिक्कों में नहीं होता, किसी मुद्रा में नहीं होता, उसकी मुद्रा है आनंद और दुख। ये ही दो पहलू हैं उसकी मुद्रा—करेंसी के। 'मोरेलिटी' का जो अंतिम छोर है वह दर्शन में है—मैटाफिजिक्स में। प्रेक्टिकल साइड में जितना है उसका मतलब है ऋणानुबंध से—कर्ज का फर्ज अदा करने के लिए। वह 'मोरेलिटी' का व्यावहारिक पहलू है और दिन-रात हमारे काम का है और हमें 'मोरेली सोल्वेन्ट' होना चाहिए, दिवालिया नहीं होना चाहिए। अब एक तरह से मोरेलिटी का भी एक विज्ञान है क्योंकि 'मोरेलिटी' एक संबंध विधान है और तथ्यों के संबंध विधान के स्वरूप की तलाश करना ही विज्ञान का काम है। और उस स्वरूप के मुताबिक व्यवहार करना विज्ञान का व्यवहार है। भौतिक परिवेश के कुछ 'नार्म' हैं और उनके अनुसार रहना ही 'नार्मल' रहना है। इसी तरह मनुष्य के व्यवहार में नार्म बना रहना चाहिए कि बाहर का परिवेश यदि प्रतिकूल हो गया हो तब भी हमारे व्यवहार का नार्म बना रहे और बाहर का अनुकूल हो गया हो तब भी उछलें-कूदें नहीं, उसका नार्म बना रहे। गीता में कहा है कि दुख आए तो उद्विग्न नहीं हो और सुख आए तो हर्षित नहीं हो। इसका एक उदाहरण है। तुलसीदास ने अयोध्या कांड के शुरू में कहा है कि मैं राम का ध्यान करता हूं, राम के मुंह का ध्यान रखता हूं, बोले क्या तो वह कहता है :

प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्ले वनवास दुःखत।
मुखाम्बुजश्री रघुनन्दनस्य मे सदास्तु सा मञ्जुलमङ्गलप्रदा।।

जिस राम को पहले दिन कहा कि बेटा, तैयार हो जाओ, तुम्हारे पिता ने तो तुम्हें राज-गद्दी देने का निर्णय लिया है। प्रजा को निमंत्रण (इनवीटेशन) भेज दिए हैं और सारा सरंजाम हो गया, तो बोले—यह बात सुनकर खुशी के मारे उछले नहीं 'प्रसन्नतां या न गता...' चेहरे पर खुशी के उछाल नहीं आए 'न मम्ले वनवास दुःखतः'। दूसरे दिन कहा कि भई, पटरा पलट गया, मौसी ने तो सारा ही गड़बड़ कर दिया अब तो चौदह वर्ष का वनवास है, तो बोले—उसका चेहरा मुरझाया नहीं और म्लान नहीं हुआ। यह जो चेहरे का एक-सा शांत बना रहना है, यह नार्म ऑफ ह्यूमिनिटी है। यह मनुष्य का 'नार्म' है और इस 'नार्म' को बनाए रखने वाला ही सदाचारी हो सकता है। सदाचार का लक्ष्य यही हो कि इस तरह का नार्म बना रहे। इसे कहते हैं स्वस्थता—स्वः का स्थित होना। तो एक तो शरीर की स्वस्थता है, दूसरी है अंतःकरण की। वेदांत की पारिभाषिक शब्दावली में कहें तो स्व का 'आधि' और 'व्याधि' से मुक्त होना है। व्याधि शरीर की होती है जिसे हम रोग कहते हैं 'फिजीकल डिजिज'। आधि होती है अंतःकरण की। अंतःकरण को स्वस्थ बनाने वाली विधा का नाम है 'मोरेलिटी'। यह 'साइंस ऑफ ह्यूमिनिटी' है। हमारी सारी परंपरा कहती है—'मनैव मनुष्याणाम् कारण बंध मोक्षे' मन ही मनुष्य है जो बीच में है—नर और पशु के बीच में, पशुत्व और देवत्व के बीच में। और मन ही मनुष्य है। वही अपने बंधन का कारण है। अगर पशुत्व को तरजीह दे देता है तो बंधन में पड़ता जाता है और अगर वह अध्यात्म को तरजीह दे दे तो बंधनमुक्त हो जाता है। मोरेलिटी की बात मैंने संक्षेप में समय की सीमा देखते हुए आपके सामने रखी।

अब अतिक्रमण की बात करें जो उसका तीसरा पहलू है—बंधन और मोक्ष क्या हैं? आमतौर से काम में लेते-लेते ये शब्द घिस गए। लेकिन ये महत्त्वपूर्ण शब्द हैं—बंधन

और मोक्ष। डॉ. भगवानदास ने एक फार्मूला बनाया और उस फार्मूले से आप तय कर लीजिए कि मनुष्य अतिक्रमण कैसे करता है। अपने को अतिक्रमित करने के लिए पशुत्व से ऊंचा उठना होता है, 'बिऑण्ड' चले जाना होता है।

मनुष्य के अंदर उसकी आत्म-चेतना का यह जो अतिक्रमण है वह पशुत्व के गुरुत्वाकर्षण से तो निकला, पारस्परिक दायित्व से अपने-आप को उसने संशोधित किया, ऋणमोचन किया, निर्भार हुआ। निर्भार होने से फिर अतिक्रमित होता है। यानी यहां का जो आकर्षण है, अटेचमेंट है दुनिया का, संसार का, परिवार का, समाज का, राज्य का, इस सब अटेचमेंट से 'डिटेच' हो। डॉ. भगवानदास ने एक फार्मूला दिया—'अटेचमेंट' क्या है? और 'डिटेचमेंट' क्या है? उन्होंने एक बहुत बढ़िया सूत्र दिया 'अहम् एतत् न' और तीन ही शब्द अंग्रेजी में कहे 'आई एम दिस नॉट'। बिल्कुल साधारण-सा लगता है परंतु अतिक्रमण का सारा दर्शन इसमें भरा पड़ा है। 'मैं यह हूं', 'यह मेरा है', यह बंधन है और 'मैं यह नहीं हूं', 'यह मेरा नहीं है' यह अतिक्रमण है। उदाहरण के लिए देखिए मनुष्य के—मैं के सात बंधन होते हैं। पहला बंधन है देह। 'मैं देह हूँ' यह पहला बंधन है। फिर इस देह के सुख-दुख मेरे हैं। लेकिन देह सुरक्षित चाहिए तो बोले कोई झोंपड़ा तो हो, सर पर कोई तप्पड़ तो हो, उसके लिए चाहिए गेह। तो देह के बंधन के बाद गेह का बंधन। लेकिन केवल गेह का, सूने घर का क्या अर्थ? स्त्री के बगैर घर बसता है क्या? तो उसे कहते हैं कलत्र बंधन। लेकिन स्त्री बांझ हो तो घर अच्छा लगता है क्या? उसके भी कोई आल-औलाद हो। तो उसे कहते हैं पुत्र बंधन। 'देह, गेह, पुत्र, कलत्र बंधन'। फिर पैसा न हो तो पुत्र-कलत्र खाएं क्या? पांचवां बंधन है वित्त बंधन। अब वित्त भी मेरा लेकिन कोरे वित्त से क्या है? थोड़ा समाज में पद तो हो, तो पद बंधन। और सातवां लोगों में ख्याति हो, यश हो, तो देह, गेह, पुत्र, कलत्र, वित्त, पद और प्रतिष्ठा। सात गांठों से मनुष्य का 'मैं' जकड़ा हुआ है। इन बंधनों से रहित हो जाएं तो वह अतिक्रमण है। पर रहित होकर, भागकर जाएगा कहां? जहां भागा 'मैं' और 'मेरा' बन जाएगा। जहां जाएगा वहां भी कुछ-न-कुछ 'मैं' के 'अतिरिक्त' है जो 'इद्म' में है या 'एतद्' है जिसे 'दिस' कहते हैं। 'दिस' के साथ जहां भी 'मैं' और 'मेरा' का संबंध है वह कोरी मानसिक कल्पना है। यह संबंध सच्चा नहीं है। यह गांठ सच्ची नहीं है। इसी को तुलसीदास ने एक चौपाई में कहा है—'जड़ चेतन ग्रंथि पड़ गई'। 'मैं' चेतन है। चेतन वह है जो अपने को जानता है, जड़ को भी जानता है। और जड़ वह है जो न अपने को जानता है और न ही चेतन को जानता है। लेकिन कहते हैं कि दोनों की कैसे ही गांठ पड़ गई—'जड़ चेतन ग्रंथि पड़ गई'। और यद्यपि यह मृषा बिल्कुल झूठी है—गांठ पड़ नहीं सकती—फिर भी छूटती बड़ी मुश्किल से है। छूटना बहुत कठिन है। यह डॉ. भगवानदास ने जो फार्मूला दिया है वह यह है कि 'दिस' को आप फिजीकली मत छोड़ो। 'मेन्टली' छोड़ो और 'डिटेच' हो जाओ और इनके 'आब्जरवर' बन जाओ। इनके साथ अपने को 'आइडेन्टीफाई' मत करो। बस, आप मुक्त हो गए। कैसे आब्जरवर बन जाओ? जैसे देह कोई दूसरी चीज है। पुराने साधु-महात्मा से पूछते—महाराज, आप पहले क्षत्रिय थे क्या? बोलते—मेरा कुल क्षत्रिय था मेरा शरीर क्षत्रिय नहीं। और गांव की पुरानी समझदार स्त्रियों से पूछते—भई, कितने बच्चे हैं? जवाब होता—भगवान के बच्चे हैं। यानी मेरे नहीं हैं। तो 'आई' और 'माई' का मानसिक जुड़ाव ही सारी बुराई की जड़ है—सारी 'ईमोरेलिटी' की और इससे 'डिटेच' हो जाना ही इससे मुक्त हो जाना है। यह अतिक्रमण का एक कदम है, दूसरा कदम है फिर किसी से अटैच होना। 'मैं' निर्वात में तो नहीं रह सकता। तो 'मैं' उससे अटैच हो जाए जिससे यह सारा ब्रह्मांड चलता है, जो इस सारे ब्रह्मांड का स्व है। उसके साथ 'अटैच' हो जाए। अक्सर लोग संदेह करते हैं कि उसका तो हमें पता ही नहीं है। कैसे हो? ब्रह्मांड चलता है भी कि नहीं चलता है? इस विश्व का संचालन करने वाली जो शक्ति है उसी का नाम है—'यूनिवर्सल सैल्फ'। हमारी जो 'सैल्फ' है 'आई', 'आई' बोलने वाली 'इन्डिविजुअल' है और 'यूनिवर्सल' है। और यह 'इन्डिविजुअल' उस 'यूनिवर्सल' का 'ऐसेन्शियल' (अभिन्न) पार्ट है जो कभी भी उससे डिटैच नहीं हुआ, लेकिन 'इन्डिविजुअल सैल्फ' उस 'यूनिवर्सल सैल्फ' को भूल गया। हमको उस 'यूनिवर्सल सैल्फ' का होश नहीं है और सारा होश है इसीलिए अल्लामा इकबाल ने एक बहुत बढ़िया बात कही थी कि हल्का करो, ट्रान्सेंड करो, भाप की तरह ऊंचा उठाओ। पानी है तो गुरुत्वाकर्षण है। जमीन का आकर्षण खींचेगा। इसे गरम करो, जिसको कहते हैं तपस्या करना। 'कन्सन्ट्रैट' करो, 'मेडिटेट' करो, ऊंचा उठाओ, ऊंचा उठते ही भाप हो जाएगी। तुम्हारा 'मैं' भाप बनकर बादल की तरह ऊपर उठेगा, बुलंदी की ओर जाएगा।

उस वक्त जीवात्मा और परमात्मा में एक संबाद (कम्यूनिकेशन) स्थापित होता है। तो जो 'ट्रान्सेंड' कर गया वह मुक्त हो गया। ❖

नरक में होने वाली अग्नि, तेजोलेश्या के प्रयोग के समय निकलने वाली ज्वाला जैसे अचित्त अथवा निर्जीव अग्नि है, वैसे ही विद्युत् भी अचित्त और निर्जीव अग्नि है—यह स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं है। वास्तव में अचित्त अग्नि—तैजस ऊर्जा है, तैजस वर्गणा के पुद्गल हैं। षड्जीवनिकाय में आने वाला सजीव अग्निकाय नहीं है।

❑ आचार्यश्री महाप्रज्ञ ❑

विद्युत् : सचित्त या अचित्त

विद्युत् सचित्त है या अचित्त—इस विषय का चिंतन बहुत वर्ष पहले हुआ था। अनेक साक्ष्यों के आधार पर हम इस निर्णय पर पहुंचे कि विद्युत् सचित्त नहीं है। यह निर्णय पूज्य आचार्यश्री तुलसी की सन्निधि में हो गया था। वह निर्णय हमारे पास सुरक्षित है, पर हमने उसका विशेष प्रचार नहीं किया। इन चार-पांच वर्षों में हमारे सामने कुछ प्रश्न, कुछ जिज्ञासाएं और कुछ समस्याएं आईं—इसलिए अनेक बार हमें उनका समाधान करना पड़ा। बिजली को अचित्त बताने के लिए हमने कोई अभियान शुरू नहीं किया है, अलबत्ता आने वाले प्रश्नों का समाधान प्रस्तुत करना हमारा ध्येय अवश्य रहा है।

कुछ जैन मुनि विद्युत् (बैटरी) द्वारा संचालित घड़ी का स्पर्श नहीं करते। जिसके हाथ में वैसी घड़ी बंधी हो, उसके हाथ से भिक्षा नहीं लेते। वैसी घड़ी को बांधकर व्यक्ति सामायिक भी नहीं कर सकता, साधुओं का चरण-स्पर्श भी नहीं कर सकता। तेरापंथ में बैटरी-संचालित घड़ी का स्पर्श करना वर्जित नहीं है और सामायिक करना भी वर्जित नहीं है। इस द्वैध के विषय में हमारे सामने जब कुछ प्रश्न आए तब उनका समाधान करना हमें आवश्यक लगा और हमने किया।

विद्युत् के संदर्भ में हमने सचित्त व अचित्त के प्रश्न पर समग्रता से विमर्श किया है।

जैन धर्म को मानने वालों के लिए 'सचित्त और अचित्त'—प्रश्न नया नहीं है। यह प्रश्न जैन धर्मावलंबियों के मनों को अनेक स्तरों पर निरंतर मथ रहा है, पर कोई निर्णायक अथवा एक-मत स्थिति कभी नहीं बन पाई है। 'विद्युत' के प्रश्न पर भी भिन्न मत सामने आते रहे हैं। प्रस्तुत आलेख में आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने शास्त्रीय आधार पर विद्युत् के सचित्त या अचित्त होने पर जो मत प्रस्तुत किया है, उससे अब विद्युत को अचित्त मानने में कोई भ्रांति शेष नहीं रह जाती और शास्त्रीय आधार पर स्पष्ट समाधान प्राप्त हो जाता है। अलबत्ता वैचारिक सदाशयता के दृढ़ पक्षधर होने के कारण उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि बिजली को अचित्त बताने का कोई अभियान उन्होंने शुरू नहीं किया है।

विद्युत् : सचित्त या अचित्त

वर्तमान युग बिजली का युग है। इस विषय में दो प्रश्न उपस्थित होते हैं—

1. बिजली अग्नि है या नहीं?

2. बिजली सचित्त है या अचित्त?

इस विषय पर विभज्यवादी शैली से विचार करना आवश्यक है।

अग्नि के मुख्य धर्म पांच हैं—1. ज्वलनशीलता 2. दाहकता 3. ताप 4. प्रकाश 5. पाकशक्ति।

नरक में जो अग्नि है वह ज्वलनशील भी है (सूयगड़ो 1/5/11), दाहक भी है (सूयगड़ो 1/5/12), उसमें ताप (सूयगड़ो 1/5/13) और प्रकाश भी है (सूयगड़ो 1/5/14), पाक-शक्ति भी है (सूयगड़ो 1/5/15)—फिर भी वह निर्जीव है, अचित्त है।

सजीव अग्निकाय सिर्फ मनुष्य-क्षेत्र में होती है। मनुष्य-क्षेत्र से बाहर सजीव अग्नि नहीं होती। सूत्रकृतांग में उसे अकाष्ठ अग्नि—ईंधन के बिना होने वाली अग्नि बताया गया है। (सूयगड़ो 1/5/38)

मनुष्य लोक में भी अचित्त अग्नि होती है। उसका उदाहरण है तेजोलेश्या। भगवती के एक प्रसंग से यह विषय स्पष्ट होता है—

—'भंते! क्या अचित्त पुद्गल भी वस्तु को अवभासित करते हैं? उद्योतित करते हैं? तप्त करते हैं? प्रभासित करते हैं?'

—'हां, करते हैं।'

—'भंते! वे कौन-से अचित्त पुदग्ल वस्तु को अवभासित करते हैं? उद्योतित करते है? तप्त करते हैं? प्रभासित करते हैं?'

—'कालोदाई! क्रुद्ध अनगार ने तेजोलेश्या का निसर्जन किया। वह दूर जाकर दूर देश में गिरती है, पार्श्व में जाकर पार्श्व देश में गिरती है। वह जहां-जहां गिरती है, वहां-वहां उसके अचित्त पुद्गल भी वस्तु को अवभासित करते हैं, उद्योतित करते हैं, तप्त करते हैं और प्रभासित करते हैं। कालोदाई! इस प्रकार वे अचित्त पुद्गल भी वस्तु को अवभासित करते हैं, उद्योतित करते हैं, तप्त करते हैं और प्रभासित करते हैं।' (भगवई 7/229-230)

कुछ विचारक कहते हैं—इसमें विद्युत् का नाम नहीं है। प्रश्न नाम होने का नहीं है। मूल प्रतिपाद्य यह है—'अचित्त पुद्गल प्रकाश करते हैं, तप्त करते हैं।' उस स्थिति में यह व्याप्ति नहीं बनती कि जिसमें दाहकता है, प्रकाश है, ताप है, वह सचित्त ही होता है।

नरक में होने वाली अग्नि, तेजोलेश्या के प्रयोग के समय निकलने वाली ज्वाला जैसे अचित्त अथवा निर्जीव अग्नि है, वैसे ही विद्युत् भी अचित्त और निर्जीव अग्नि है—यह स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं है। वास्तव में अचित्त अग्नि—तैजस ऊर्जा है, तैजस वर्गणा के पुद्गल हैं। षड्जीवनिकाय में आने वाला सजीव अग्निकाय नहीं है।

भगवती वृत्ति में तेजोलेश्या को अग्निसदृश द्रव्य कहा गया है। (भ.वृ. पत्र 642. तदग्नि सदृश द्रव्यान्तराऽपेक्षयावसेयं संभवन्ति तथाविध शक्तिमन्ति द्रव्याणि तेजोलेश्याद्रव्यवदिति।)

तर्क की अपनी मर्यादा होती है। इस विषय में हरिभद्र सूरि के षड्दर्शन की वृत्ति में उद्धृत श्लोक बहुत महत्त्वपूर्ण है—

आग्रही बत निनीषति युक्ति, तत्र यत्र मतिस्य निविष्टा।
पक्षपातरहितस्य तु युक्ति, यत्र तत्र मतिरेति निवेषम्।।

अचित्त पुद्गल प्रकाश करते हैं। इसमें विद्युत् का उल्लेख नहीं है, यह प्रश्न यहां प्रासंगिक नहीं है। प्रासंगिक इतना ही है कि अचित्त पुद्गल प्रकाश करते हैं। वे जीव के द्वारा गृहीत हो चुके हैं, इसलिए प्रकाश करते हैं—यह तर्क भी संगत नहीं है। प्रकाश, आतप, उद्योत, छाया—ये सब पुद्गल के लक्षण हैं।

शब्द बंध सौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवन्तश्च।
तत्त्वार्थवार्तिक 5/24)

सद्दंधयारउज्जोओ पहा छाया तवे इ वा।
वण्णरसगंधफासा पुग्गलाणं तु लक्खणं।।
(उत्तरज्झयणाणि 28/12)

अंधकार पुद्गल का लक्षण है। वह जीव के द्वारा गृहीत होकर अंधकार नहीं बनता। प्रकाश पुद्गल का लक्षण है। वह जीव के द्वारा गृहीत होकर प्रकाश बनता है, यह कोई नियम नहीं है। पुद्गलों का परिणमन जीव के प्रयोग से भी होता है और स्वभाव से भी होता है। भगवती सूत्र में परिणमन के तीन प्रकार बतलाए गए हैं—विस्रसा—स्वाभाविक, मिश्र, प्रायोगिक—जीव प्रयत्नजन्य।

भगवती का एक और उल्लेख है कि दिन में पुद्गल शुभ रूप में परिणत हो जाते हैं और रात्रि में वे अशुभ रूप में परिणत होते हैं। नैयायिक आदि अंधकार को अभाव रूप में मानते हैं। जैन दर्शन के अनुसार वह पुद्गल का परिणाम है। जैसे अंधकार पुद्गल का परिणाम है, वैसे ही प्रकाश भी पुद्गल का परिणाम है। भगवती का पूर्ण पाठ इस प्रकार है—

—'से नूणं भंते! दिया उज्जोए? राइं अंधयारे?
हंता गोयमा! दिया उज्जोए, राइं अंधयारे।।
से केणट्ठेणं?
गोयमा! दिया सुभा पोग्गला सुभे पोग्गलपरिणामे, राइं असुभा पोग्गला असुभे पोग्गलपरिणामे। से तेणट्ठेणं।।'

(भगवई 5/237-238)

—'भंते! क्या दिन में उद्योत और रात्रि में अंधकार है?'

'हां, गौतम! दिन में उद्योत और रात्रि में अंधकार है।'

'यह किस अपेक्षा से?'

'गौतम! दिन में शुभ पुद्गल होते हैं और पुद्गलों का परिणमन शुभ होता है। रात्रि में अशुभ पुद्गल होते हैं और पुद्गलों का परिणमन अशुभ होता है—यह इस अपेक्षा से।'

दिन में सूर्यरश्मियों के संपर्क से पुद्गलों का परिणमन शुभ होता है। इसलिए दिन में उद्योत होता है। रात्रि में सूर्यरश्मि तथा अन्य प्रकाशक वस्तुओं के अभाव में पुद्गलों का परिणमन अशुभ हो जाता है।

प्रस्तुत आलापक में उद्योत और अंधकार का अनेक अपेक्षाओं से निरूपण किया गया है। नरक में पुद्गलों का अशुभ परिणमन होने के कारण निरंतर अंधकार रहता है। वृत्तिकार के अनुसार पुद्गल की शुभ परिणति के निमित्तभूत सूर्यकिरण आदि प्रकाशक वस्तु का अभाव है। दिवसे शुभाः पुद्गला भवन्ति, किमुक्तं भवति?—शुभः पुद्गलपरिणामः स चार्ककरसम्पर्कात्। (भ.वृ. 5/238)

तैजस वर्गणा को तैजस शरीर तक सीमित करना संगत नहीं है। जीव तैजस वर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण कर तैजस शरीर में उनका परिणमन करता है, किंतु तैजस वर्गणा के समस्त पुद्गलों का जीव के द्वारा सदा-सर्वदा ग्रहण और परिणमन होना आवश्यक नहीं है।

विद्युत् अग्नि है या नहीं—इस प्रश्न पर विचार करते समय हमें भगवती के उस नियम को भी ध्यान में रखना चाहिए कि वायुकाय के बिना अग्निकाय प्रज्वलित नहीं होता। न विणा वाऊकाएण अगणिकाए उज्जलति। (भगवई 16/5)

निष्कर्ष

उक्त विवरण का निष्कर्ष यह है—विद्युत् ऊर्जा है। इसे काष्ठविहीन अग्नि भी कहा जा सकता है। जैसे तेजोलेश्या के प्रयोग के समय तेजोलब्धि-संपन्न व्यक्ति के मुख से निकलने वाली ज्वाला को अग्नि कहा जा सकता है, वैसे ही विद्युत् को अग्नि कहा जा सकता है।

जैसे नरक में होने वाली ऊर्जा को अग्नि कहा गया है, वैसे ही विद्युत् की ऊर्जा को अग्नि कहा जा सकता है। जैसे तेजोलेश्या के तैजस परमाणुओं से उत्पन्न ऊर्जा अचित्त है और जैसे नरक में होने वाले तैजस परमाणुओं की ऊर्जा अचित्त है वैसे ही विद्युत् की तैजस परमाणुओं से उत्पन्न ऊर्जा अचित्त है।

विद्युत् सचित्त है या अचित्त? यह भी हमारे आग्रह का कोई विषय नहीं है। विद्युत् का प्रयोग व्यावहारिक है या अव्यावहारिक, इस प्रश्न पर चिंतन करना भी हमारे अधिकार का विषय नहीं है। अपनी परंपरा को मानने और उसके अनुसार व्यवहार करने में सब स्वतंत्र हैं। हमारा प्रतिपाद्य इतना ही है कि व्यवहार और अव्यवहार की समस्या के आधार पर यथार्थ को नहीं बदला जा सकता।

यद्यपि प्रस्तुत लेख में आगम के साक्ष्य उद्धृत किए गए हैं, फिर भी संलग्न रूप में आगम, चूर्णि और वृत्ति के कुछ उद्धरण प्रयुक्त करना अपेक्षित मानता हूं—

बादर तेजसकाय मनुष्यक्षेत्र से बाहर नहीं

कहि णं भंते! बादरतेउकाइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा पण्णत्ता?

गोयमा! सट्ठाणेणं अंतोमणुस्सखेत्ते अड्ढाइज्जेसु दीव-समुद्देसु निव्वाघाएणं पण्णरससु कम्मभूमीसु, वाघायं पडुच्च पंचसु महाविदेहेसु, एत्थ णं बादरतेउक्काइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा पण्णत्ता।

उववाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, समुग्घाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जइभागे। (पण्णवणा 2/7)

भंते! पर्याय बादर तैजसकायिक जीवों के स्थान कहां प्रज्ञप्त हैं?

गौतम! स्वस्थान की अपेक्षा बादर तैजसकायिक जीवों का क्षेत्र मनुष्य-क्षेत्र से कुछ न्यून है। निर्व्याघात स्थिति में अढ़ाई द्वीप समुद्रों और पंद्रह कर्मभूमियों में है। व्याघात स्थिति में वे पांच महाविदेह क्षेत्रों में हैं। पर्याप्त बादर तैजसकायिक जीवों का यह अंतःक्षेत्र प्रज्ञप्त है।

उपपात की अपेक्षा बादर तैजसकायिक जीव लोक के असंख्यातवें भाग में, समुद्घात की अपेक्षा से तैजसकायिक जीव लोक के असंख्यातवें भाग में, स्वस्थान की अपेक्षा बादर तैजसकायिक जीव लोक के असंख्यातवें भाग में होते हैं।

अचित्त पुद्गल : प्रकाश और ताप

अत्थि णं भंते! अच्चित्ता वि पोग्गला ओभासंति? उज्जोवेंति? तवेंति? पभासेंति?

हंता अत्थि।

कयरे णं भंते! ते अच्चित्ता वि पोग्गला ओभासंति? उज्जोवेंति? तवेंति? पभासेंति?

कालोदाई! कुद्धस्स अणगारस्स तेय-लेस्या निसट्ठा समाणी दूरं गता दूरं निपतति, देसं गता देसं निपतति, जहिं जहिं च णं सा निपतति तहिं-तहिं च णं ते अचित्ता वि पोग्गला ओभासंति, उज्जोवेंति, तवेंति, पभासेंति। एतेणं कालोदाई!

ते अचित्ता वि पोग्गला ओभासंति, उज्जोवेंति, तवेंति, पभासेंति। (भगवई 7/229, 230)

भंते! क्या अचित पुद्गल भी वस्तु को अवभासित करते हैं? उद्योतित करते हैं? तप्त करते हैं? प्रभासित करते हैं?

हां, करते हैं।

भंते! वे कौन-से अचित्त पुद्गल वस्तु को अवभासित करते हैं? उद्योतित करते हैं? तप्त करते हैं? प्रभासित करते हैं?

कालोदाई! क्रुद्ध अनगार ने तेजोलेश्या का निसर्जन किया, वह दूर जाकर दूर देश में गिरती है, पार्श्व में जाकर पार्श्व देश में गिरती है। वह जहां-जहां गिरती है, वहां-वहां उसके अचित्त पुद्गल भी वस्तु को अवभासित करते हैं, उद्योतित करते हैं, तप्त करते हैं और प्रभासित करते हैं। कालोदाई! इस प्रकार वे अचित्त पुद्गल भी वस्तु को अवभासित करते हैं, उद्योतित करते हैं, तप्त करते हैं और प्रभासित करते हैं।

अग्नि नहीं, अग्नि सदृश द्रव्य

तत्थ णं जे से विग्गहगति समावन्नए नेरइए से णं अगणिकायस्स मज्झंमज्झेणं वीइवएज्जा। (भगवई 14/54, 55)

नारकक्षेत्रे बादराग्निकायस्याभावात्, मनुष्यक्षेत्रे एव तद्भावात्, यच्चोत्तराध्ययनादिषु श्रूयते—'हुयासणे जलंतंम्मि दड्ढपुव्वो अणेगसो।' इत्यादि तदग्निसदृशद्रव्यान्तरापेक्षययावसेयं, संभवन्ति च तथाविधशक्तिमन्ति द्रव्याणि तेजोलेश्याद्रव्यवदिति। (भगवई टीका 14/54, 55)

वायु के बिना अग्नि नहीं जलती

ते विणा वाउयाएणं अगणिकाय उज्जलति। (भगवई 17/5)

अचित्त अग्नि

इंगालरासिं जलियं सजोइं, तओवमं भूमिमणुक्कमंता।

ते डज्झमाणा कलुणं थणंति, उसुचोइया तत्थ चिरट्ठिईया।। (सूयगडो 5/1/7)

वे जलती हुई ज्योति सहित अंगारराशि के समान भूमि पर चलते हैं। उसके ताप से जलते हुए वे चिल्ला-चिल्लाकर करुण क्रंदन करते हैं। वे चिरकाल तक उस नरक में रहते हैं।

इंगालसिं—

जधा इंगालरासी जलितो धगधगेति एवं ते नरकाः स्वभावोष्णा एव ण पुण तत्थ बादरो अग्गी अत्थि, उसिणपरिणता पोग्गला जंतवाडचुल्लीओ वि उसिणतरा। (सूत्रकृतांग चूर्णि, पृ. 128)

तत्र बादराग्नेरभावात्तदुपमां भूमिमित्युक्तम्, एतदपि दिग्दर्शनार्थमुक्तम्, अन्यथा नारकतापस्येहत्याग्निना नोपमा घटते, ते च नारका महानगरदाहाधिकेन तापेन दह्यमाना। (सूत्रकृतांग वृत्ति. पत्र 129)

विधूमो नामाग्निरेव, विधूमग्रहणाद्, निरिन्धनोऽग्निः स्वयं प्रज्वलितः सेन्धनस्य ह्यग्नेरवश्यमेव धूमो भवति। (चूर्णि, पृ. 136)

वैक्रियकालभवा अग्नयः अघट्टिता पातालस्था अप्यनवस्था। (चूर्णि, पृ. 137)

नरक में बादर अग्नि नहीं होती। वहां के कुछ स्थानों के पुद्गल स्वतः उष्ण होते हैं। वे भट्टी की आग से भी अधिक ताप वाले होते हैं। वे अचित्त अग्निकाय के पुद्गल हैं। हमारी अग्नि से उस अग्नि की तुलना नहीं की जा सकती, क्योंकि वहां अग्नि का ताप महानगरदाह की अग्नि से उत्पन्न ताप से बहुत तीव्र होता है।

पैंतीसवें तथा अड़तीसवें श्लोक में भी बिना काठ की अग्नि का उल्लेख है। उसकी उत्पत्ति वैक्रिय से होती है। यह अचित्त अग्नि है।

केसिं च बंधित्तु गले सिलाओ, उदगंसि बोलेंति महालयंसि।

कलंबुयावालुयमुम्मुरे य, लोलेंति पच्चंति य तत्थ अण्णे।। (सूयगडो 5/1/10)

कुछ परमाधार्मिक देव किन्हीं के गले में शिला बांधकर उन्हें अथाह पानी में डुबो देते हैं। (वहां से निकालकर) तुषाग्नि की भांति (वैतरणी के) तीर की तपी हुई बालुका में उन्हें लोटपोट करते हैं और भूनते हैं।

असूरियं णाम महाभितावं, अंधं तमं दुप्पतरं महंतं।

उड्ढं अहे यं तिरियं दिसासु, समाहिओ जत्थगणी झियाइ।। (सूयगडो 5/1/11)

असूर्य नाम का महान संतापकारी एक नरकावास है। वहां घोर अंधकार है, जिसका पार पाना कठिन हो—इतना विशाल है। वहां ऊंची, नीची और तिरछी दिशाओं में निरंतर आग जलती है।

अगणी-आग

तत्थ कालोभासी अचेयणो अगणिक्कायो। (चूर्णि, पृ. 129)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ काली आभा वाला अग्निकाय किया है। वह अचेतन होता है।

जंसी गुहाए जलणेऽतिवट्टे, अविजाणओ डज्झइ लुत्तपण्णो।

सया य कलुणं पुण घम्मठाणं, गाढोवणीयं अइदुक्खधम्मं।। (सूयगडो 5/1/12)

उसकी गुफा में नारकीय जीव ढकेला जाता है। वह प्रज्ञाशून्य नैरयिक निर्गमद्वार को नहीं जानता हुआ उस अग्नि में जलने लग जाता है। नैरयिकों के रहने का वह स्थान सदा तापमय और करुणा उत्पन्न करने वाला है। वह कर्म के द्वारा प्राप्त और अत्यंत दुखमय है।

चत्तारि अगणीओ समारभेत्ता, जहिं कूरकम्मा भितवेंति बालं।

ते तत्थ चिट्ठंतऽभितप्पमाणा, मच्छा व जीवंतु व जोइपत्ता।। (सूयगडो 5/1/13)

क्रूरकर्मा नरकपाल नरकावास में चारों दिशाओं में अग्नि जलाकर इन अज्ञानी नारकों को तपाते हैं। वे ताप सहते हुए वहां पड़े रहते हैं, जैसे अग्नि के समीप ले जाई गई जीवित मछलियां।

अयं व तत्तं जलियं सजोइं, तओवमं भूमिमणुक्कमंता।

ते डज्झमाणा कलुणं थणंति, उसुचोइया तत्तजुगेसु जुत्ता।। (सूयगडो 5/2/4)

तप्त लोह की भांति जलती हुई अग्नि जैसी भूमि पर चलते हुए वे जलने पर करुण रुदन करते हैं। वे बाण से बींधे जाते हैं और तपे हुए जुए से जुते रहते हैं।

(1) तओवमं—अग्नि जैसी

सा तु भूमि....न तु केवलमेवोष्णा। ज्वलितज्योतिषाऽपि अणंतगुणं हि उष्णा सा, तदस्या औपम्यं तदोपमा। (सूत्रकृतांग चूर्णि, पृ. 135)

एवा तदेवंरूपां तदुपमां वा भूमिम्। (सूत्रकृतांग वृत्ति-पत्र 135)

यह भूमि का विशेषण है। इसका संस्कृत रूप है 'तदुपमाम्'। वह भूमि केवल उष्ण ही नहीं है, किंतु अग्नि से भी अनंत गुण अधिक उष्ण है।

(2) ते डज्झमाणा—वे जलने पर

ते तं इंगालतुल्लं भूमिं पुणो पुणो खुंदाविज्जंति। (सूत्रकृतांग चूर्णि, पृ. 135)

नरकपाल धधकते अंगारे जैसी उष्ण भूमि पर नैरयिकों को जाने-आने के लिए विवश करते हैं।

समूसियं णाम विधूमठाणं, जं सोयतत्ता कलुणं थणंति।

अहोसिरं कट्टु विगत्तिऊणं, अयं व सत्थेहि समूसवेंति।। (सूयगडो 5/2/8)

वहां एक बहुत ऊंचा विधूम अग्नि का स्थान है, जिसमें जाकर वे नैरयिक शोक से तप्त होकर करुण-रुदन करते हैं। नरकपाल उन्हें बकरे की भांति औंधे सिर कर, उनके सिर को काटते हैं और शूल पर लटका देते हैं।

विधूमठाणं

(1) विधूमो नामाग्निरेव, विधूमग्रहणाद् निरिन्धनोऽग्निः स्वयं प्रज्वलितः सेन्धनस्य ह्यग्नेरवश्यमेव धूमो भवति अथवा विधूमवद्, विधूमानां हि अङ्गाराणामतीव तापो भवति। (सूत्रकृतांग चूर्णि, पृ. 136)

चूर्णिकार ने बताया है जो अग्नि ईंधन से ही प्रज्वलित होती है, उससे धुआं अवश्य ही निकलता है। नरक की अग्नि निरींधन होती है।

सयाजलं ठाण णिहं महंतं, जंसी जलंतो अगणी अकट्ठो।

चिट्ठंति तत्था बहुकूरकम्मा, अहस्सरा केइ चिरट्ठिईया।। (सूयगडो 5/2/11)

सदा जलने वाला एक महान वधस्थान है। उसमें बिना काठ की आग जलती है। वहां बहुत क्रूर कर्म वाले नैरयिक जोर-जोर से चिल्लाते हुए लंबे समय तक रहते हैं।

जहा इहं अगणी उण्हो, एत्तोणंतगुणे तहिं।

नरएसु वेयणा उण्हा, अस्साया वेइया मए।। (उत्तरज्झयणाणि 19/47)

जैसे यहां अग्नि उष्ण है, इससे अनंत-गुना अधिक दुखमय उष्ण-वेदना वहां नरक में मैंने सही है।

कंदंतो कंदुकुंभीसु, उड्ढपाओ अहोसिरो।

हुयासणे जलंतम्मि, पक्कपुव्वो अणंतसो।।
(उत्तरज्झयणाणि 7/57)

पकाने के पात्र में, जलती हुई अग्नि में पैरों को ऊंचा और सिर को नीचा कर आक्रंदन करता हुआ मैं अनंत बार पकाया गया हूं।

हुयासणे

तत्र च बादराग्नेरभावात् पृथिव्या एव तथाविधः स्पर्श इति गम्यते। (बृहदवृत्ति, पत्र 459)

अग्निकायिक जीव दो प्रकार के होते हैं—सूक्ष्म और बादर। अग्नि के बादर जीव नरक में नहीं होते। यहां जो अग्नि का उल्लेख है, वह सजीव अग्नि के लिए नहीं, किंतु अग्नि जैसे तापवान और प्रकाशवान पुद्गलों के लिए है।

महादवग्गिसंकासे, मरुम्मि वइरवालुए।

कलंबवालुयाए य, दड्ढपुव्वो अणंतसो।।
(उत्तरज्झयणाणि 19/50)

महा दवाग्नि तथा मरु-देश और वज्र-बालुका जैसी कदंब नदी के बालु में मैं अनंत बार जलाया गया हूं।

हुयासणे जलंतम्मि, चियासु महिसो वि व।

दड्ढो पक्को य अवसो, पावकम्मेहि पाविओ।।
(उत्तरज्झयाणि 19/57)

पाप-कर्मों से घिरा और परवश हुआ मैं भैंसे की भांति अग्नि की जलती हुई चिताओं में जलाया और पकाया गया हूं।

इंदभूती नाम अणगारे गोयमसगोत्ते... संखित्तविउलतेयलेसे....। (भगवती 1/9)

संक्षिप्ता—शरीरान्तर्लीनत्वेन ह्रस्वतां गता, विपुला-विस्तीर्णा अनेकयोजनप्रमाणक्षेत्राश्रितवस्तु-दहनसमर्थत्वात्तेजोलेश्या – विशिष्टतपोजन्यलब्धिविशेष-प्रभवा तेजोज्वाला यस्य स तथा। (भ. वृ. 1/9)

वृत्तिकार ने तेजोलेश्या का अर्थ तेजो-ज्वाला किया है। यहां तेजोलेश्या का प्रयोग एक ऋद्धि (लब्धि या योगज विभूति) के अर्थ में हुआ है।

ठाणं के अनुसार यह ऋद्धि तीन कारणों से उपलब्ध होती है। इसकी तुलना हठयोग की कुंडलिनी से की जा सकती है। कुंडलिनी की दो अवस्थाएं होती हैं—सुप्त और जागृत। तेजोलेश्या की भी दो अवस्थाएं होती हैं—संक्षिप्त और विपुल। इसके द्वारा हजारों किलोमीटर में अवस्थित वस्तु को भस्म किया जा सकता है। इसी प्रकार बहुत दूर तक अनुग्रह भी किया जा सकता है। इसके द्वारा अनुग्रह और निग्रह दोनों किए जा सकते हैं। ❖

घर-परिवार और मित्र-परिजनों के यहां खुशी के अवसरों पर 'जैन भारती' उपहार के रूप में एक वर्ष, तीन वर्ष या दस वर्ष तक भिजवाकर आप आध्यात्मिक-नैतिक मूल्यों के विकास में योगदान दे सकते हैं। जन्म-दिन का उपहार हो या कोई अन्य अवसर, 'जैन भारती' अनुपम उपहार के रूप में भेंट के लिए हमें लिखें। आपकी ओर से हम यह कार्य करेंगे।

जैन *भारती* एक संपूर्ण पत्रिका है। वैचारिक उन्मेष और परिष्कृत रंजन के लिए जैन *भारती* पढ़ें—सबको पढ़ाएं।

व्यवस्थापक
जैन भारती
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
तेरापंथ भवन, महावीर चौक
गंगाशहर, बीकानेर 334401

शक्ति-संतुलन के बिना अहिंसा का विकास संभव नहीं—एक व्यक्ति या वर्ग शक्ति का प्रदर्शन कर दूसरे व्यक्ति या वर्ग को अधीन रखना चाहता है। अधीनीकृत व्यक्ति या वर्ग के मन में इस हिंसा की प्रतिक्रिया होती है। इस असंतुलित शक्ति के वातावरण में हिंसा की आग भभक उठती है। इसी अनुभूति के क्षण में भगवान महावीर ने कहा था—'न अज्झावेयव्वा'—किसी भी मनुष्य पर हुकूमत मत करो, उसे अपने अधीन बनाकर मत रखो। यह अहिंसा का मूल मंत्र है। इसकी वेदी पर ही अहिंसा की प्रतिमा प्रतिष्ठित हो सकती है।

❑ साध्वी सरलयशा ❑

अहिंसा : आगम के आलोक में

आगम द्रष्टा की साक्षात् सत्यानुभूति का प्रतिबिंब माना जाता है। आगमों का माहात्म्य असीम है। वेदों का जो स्थान वैदिक परंपरा में, बौद्ध परंपरा में जो स्थान त्रिपिटक का, ईसाई मत में जो स्थान बाइबिल का और इस्लाम में जो स्थान कुरान का है वही स्थान आगमों का जैन परंपरा में है। इनमें अहिंसा का प्रतिपादन आत्मानुभूति के आधार पर हुआ है। अहिंसा के विराट स्वरूप को प्रकट करने वाली अनेकशः परिभाषाएं आगमों में सुरक्षित हैं। आगमों में अहिंसा का विविधोन्मुखी स्वरूप प्रकट हुआ है। संयम, समता, आत्मतुला, मोक्षव्याप्ति, अणुव्रत, महाव्रत, आदर्श समाज-व्यवस्था के सूत्र इनमें प्रमुख हैं। इस विषय में कतिपय परिभाषाओं का मनन अभीष्ट है।

सर्व जीवों के प्रति संयमपूर्ण जीवन-व्यवहार ही अहिंसा है।[1] यह परिभाषा अहिंसा के उच्च स्वरूप को प्रकट करती है। इसमें सामान्य रूप से उठाई जाने वाली इस आपत्ति—'जैन लोग जितना प्राणी को न मारने पर बल देते हैं उतना मानसिक हिंसा या अहिंसा पर नहीं देते' का निरसन हुआ है। इस परिभाषा का स्पष्ट आशय है—वीतराग वाणी में हिंसा का अर्थ है—असंयम, अहिंसा का अर्थ है—संयम। हिंसा का अर्थ है—प्रमाद, अहिंसा का अर्थ है—अप्रमाद। संयम ही अहिंसा है, अप्रमाद ही अहिंसा है। इस विवेचन में मानसिक अहिंसा व हिंसा का समावेश स्पष्टतः है। संयम का अर्थ है—निग्रह करना। अठारह पापों का निग्रह, प्रत्याख्यान। इस एक परिभाषा में ही अहिंसा का मूल हृदय आ जाता है। स्थूल दृष्टि होने के कारण एक व्यक्ति सूक्ष्मता को कम पकड़ पाता है। इसलिए अहिंसा के संदर्भ में यह निर्देश दिया गया—किसी को मारो मत। मत मारो—यह कहकर मनुष्य के मन में करुणा का भाव पैदा किया गया, अनुकंपा पैदा की गई। जब करुणा का विकास होता है तब वह न मारने तक ही सीमित नहीं रहता, उसमें प्रेम का भाव भी बढ़ता है। जिस व्यक्ति में प्रेम और मैत्री का भाव विकसित है वह प्राणीमात्र के लिए मैत्री का विकास करेगा—यही संयम की फलश्रुति है।

'प्राणातिपात विरति ही अहिंसा है।'[2] प्राणीमात्र की हिंसा न करने का दृढ़ संकल्पी ही अहिंसा महाव्रती होता है, जीवमात्र का रक्षक होता है। उसकी सर्व प्राणातिपात विरति की प्रतिज्ञा इसका पुष्ट प्रमाण है। शास्त्रकारों ने स्थान-स्थान पर मुनि को षड्जीवनिकाय का संरक्षक कहा है। इससे उस प्रवचन का प्रयोजन—'सव्वजग्ग-जीवरक्खणदयढ़याराा पावायण भगवया सुकहिअ' भी चरितार्थ होता है जो कि भगवान महावीर ने अहिंसा की प्रवृत्ति करने के लिए किया। अहिंसा में सब जीवों की रक्षा या दया अपने-आप समाविष्ट है। जो अपने लिए अहिंसक

यानी पूर्ण आत्मसंयमी है, वही दूसरों के लिए रक्षा या दया है। भगवान महावीर ने प्रवचन के विस्तार में अहिंसा का अनेक रूपों में प्रतिपादन किया है। इस तथ्य को पुष्ट करने वाला यह कथन है—ऊर्ध्व, अधः और तिर्यक्—तीनों लोकों में जो भी त्रस और स्थावर जीव हैं, उन सबके प्राणातिपात से विरत होना चाहिए। सब जीवों के प्रति वैर की शांति (पूर्ण अहिंसा) को ही निर्वाण कहा है।[3]

अहिंसा की सूक्ष्म मीमांसा करते हुए कहा—'मन, वचन और काया—इनमें से किसी एक के द्वारा भी किसी प्रकार के भी जीवों की हिंसा न हो—ऐसा व्यवहार ही संयमी जीवन है। इस जीवन का निरंतर धारण ही अहिंसा है।'[4] अहिंसा के विकास की उच्च स्थिति में इसका पूर्ण पालन संभव होता है। अप्रमत्त मुनि ही इस कोटि की अहिंसा साध सकता है।

अहिंसा अणुव्रत को परिभाषित करते हुए कहा गया—मन, वचन और काय से तथा कृतकारित और अनुमोदन से त्रस जीवों की सांकल्पिक हिंसा का परित्याग करने को अहिंसा अणुव्रत कहते हैं।[5] श्रावक अहिंसा की इस प्रकार की साधना करता है। उसे लक्षित करके अहिंसा अणुव्रत का प्रतिपादन किया गया है।

भावनात्मक स्तर पर अहिंसा को प्रतिपादित करते हुए कहा—रागादि भावों की अनुद्भूति या अनुत्पत्ति को अहिंसा कहते हैं।[6] इस परिभाषा में हिंसा के मूल बीज रागादि भावों का चित्रण हुआ है, वह इस बात का साक्ष्य है कि जब तक भावनात्मक स्तर पर राग-द्वेष का अस्तित्व विद्यमान रहेगा तब तक अहिंसा की उच्च स्थिति का विकास संभव नहीं होगा। अहिंसा का शाश्वत सिद्धांत है—राग-द्वेष-मुक्त क्षण में जीना। 'शत्रु अथवा मित्र सभी प्राणियों पर समभाव की दृष्टि रखना ही अहिंसा है'[7]—इस कथन में मैत्री का संदेश ध्वनित हुआ है। यह विधेयात्मक अहिंसा का स्वरूप भी कहा जा सकता है। इससे प्रकट होता है कि अहिंसा में मैत्री है, सद्भावना है, सौहार्द है, एकता है। इसका संवादी कथन है—'मेति भूएसु कप्पए'। प्राणीमात्र के प्रति मैत्री का बर्ताव करो। इसमें सह-अस्तित्व का सिद्धांत समाया हुआ है।

जैविक, वैयक्तिक, सामाजिक परिवेश को आप्यायित करने वाली महत्त्वपूर्ण अहिंसा की परिभाषा आचारांग सूत्र में मिलती है—'प्राणियों को मत मारो, उन पर अनुशासन मत करो, उनको अधीन मत करो, दास-दासी की तरह पराधीन बनाकर मत रखो, प्राण-वियोग मत करो, यह (अहिंसा) धर्म ध्रुव, नित्य और शाश्वत है।'[8] इस संदर्भ में जीववाची चार शब्दों—प्राण, भूत, जीव और सत्त्व का संज्ञान जरूरी है। आचारांग भाष्य के अनुसार—

प्राण—जो आन, अपान उच्छ्वास और निःश्वास से युक्त हैं—वे प्राण कहलाते हैं।

भूत—जो थे, हैं और रहेंगे—वे भूत कहलाते हैं।

जीव—जिससे जीव जीता है, जो जीवत्व और आयुष्य कर्म का उपजीवी है—वह जीव है।

सत्त्व—जिसमें शुभ-अशुभ कर्मों की सत्ता है—वह सत्त्व है।

इस अहिंसा सूत्र में पांच आदेश हैं—

1. उनका हनन नहीं करना चाहिए—दंड, चाबुक आदि साधनों से।

2. उनका हनन नहीं करना चाहिए तथा उन पर शासन नहीं करना चाहिए—बलपूर्वक आदेश देकर।

3. उनका परिग्रह नहीं करना चाहिए—ये मेरे भृत्य, दास-दासी हैं—इस प्रकार ममकार के द्वारा।

4. उन्हें परिताप नहीं देना चाहिए—शारीरिक और मानसिक पीड़ा उत्पन्न कर।

5. उनका उद्द्रवण नहीं करना चाहिए—प्राण-वियोजन के द्वारा।[9]

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने इसका आशय स्पष्ट करते हुए कहा—'भगवान महावीर का यह संदेश है कि—किसी को मत मारो, मत सताओ, पीड़ा मत दो, दास-दासी बना हुकूमत मत करो, बलात् किसी को अपने अधीन मत करो। जो अपनी वेदना को समझता है, वही दूसरों की वेदना को समझता है। जो व्यक्ति धर्म, अर्थ और काम के लिए, जन्म-मृत्यु से मुक्त होने के लिए, मान, प्रतिष्ठा और बड़प्पन के लिए दूसरे जीवों को मारते हैं, वह उनके हित के लिए नहीं होता। हिंसा कायरता है। जो सत्त्वहीन होता है, वही दूसरों को मारता है। अहिंसा वीर धर्म है।'[10]

भगवत् वाणी में अहिंसा का स्वरूप अनेक रूपों में प्रकट हुआ है—'प्राणीमात्र को दुख न देना, शोक उत्पन्न न करना, न रुलाना, न अश्रुपात करना, न उन जगज्जीवों को ताड़न-तर्जन देना।'[11] इसमें जगज्जीव शब्द विशेष रूप से मननीय है। इसका आशय सूत्रकृतांग सूत्र के मोक्ष मार्ग में अधिक स्पष्ट हुआ है—'पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय—ये षट्कायिक जीव

संसार में हैं। इनके अतिरिक्त कोई जीव निकाय नहीं है। बुद्धिमान पुरुष इन षट्कायिक जीवों में 'सबको दुख अप्रिय है'—ऐसा सम्यक् प्रकार से समझकर, सबके प्रति अहिंसा करें। ऊर्ध्व, अधो और तिर्यक् दिशा में जो भी त्रस और स्थावर प्राणी हैं, उनकी हिंसा से निवृत्ति को ही निर्वाण कहा गया है।'[12] अहिंसा की इतनी सूक्ष्म प्रतिपत्ति वीतराग वाणी में ही संभव है। चूंकि स्थूल दृष्टिवान को जगज्जीवों के अस्तित्व को भी स्वीकारने में ननुनच करते देखा जाता है फिर इनके प्रति अहिंसा का तो प्रश्न ही पैदा नहीं होता।

अहिंसा का उच्च आदर्श एवं इसकी पूर्णता को प्रकट करने वाला स्वर 'आत्मतुला' के रूप में मुखरित है—'प्राणीमात्र को आत्म-तुल्य समझो।'[13] ऐसा ही एक दूसरा कथन—'छह जीव निकाय को अपनी आत्मा के समान समझो।'[14] 'एवं तुल मन्नेसिं' आदि सूक्त प्राणीमात्र के साथ समता का अन्वेषण करने की प्रेरणा देते हैं। भगवान महावीर की वाणी से इस प्रकार समता का स्वर निकला। आत्मौपम्य चेतना का अनुभव एकात्मवाद का फलित है। प्रश्न हो सकता है—ऐक्यबुद्धि-अभेदबुद्धि में कैसी अहिंसा? प्रतिप्रश्न भी पैदा होता है—आत्मैक्य के बिना कैसी अहिंसा? अहिंसा या दया आत्मनिष्ठ है, आत्मगुण है। वह आत्मा से उपजती है, समानता की भावना से पुष्ट होती है। तात्पर्य की भाषा में अहिंसा का अर्थ है—अपना बचाव। उसमें दूसरों की रक्षा या दया, जो भी कहें—अपने-आप हो जाता है।

आत्मानुभूति के आलोक में अहिंसा का सिद्धांत है—जो तुम स्वयं नहीं चाहते, दूसरों के लिए भी वैसा मत करो। तुम्हें सुख प्रिय है और दुख अप्रिय तो दूसरों को भी तुम दुख मत दो, कष्ट मत दो, मत सताओ। सूत्रकृतांग सूत्र में इसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति देखी जा सकती है—'जैसे मेरे लिए यह अप्रिय होता है, (यदि)—डंडे, हड्डी, मुट्ठी, ढेले या खप्पर से मुझे कोई पीटे-मारे, तर्जना और ताड़ना दे, परितप्त और क्लांत करे, प्राण से वियोजित करे और यहां तक कि रोम उखाड़ने-मात्र से भी हिंसा-कारक दुख और भय का प्रतिसंवेदन करता हूं—ऐसा तुम जानो। इसी तरह किसी अन्य के प्राण, भूत, जीव और सत्त्व को डंडे से, अस्थि से, मुट्ठी से, ढेले से या खप्पर से कोई पीटे-मारे, तर्जना और ताड़ना दे, परितप्त और क्लांत करे, प्राण से वियोजित करे तब यहां तक कि रोम उखाड़ने-मात्र से भी हिंसाकारक दुख और भय का प्रतिसंवेदन करते हैं। (आत्मतुला से) ऐसा जानकर किसी भी प्राण, भूत, जीव और सत्त्व को न मारे, न अधीन बनाए, न दास बनाए, न परिताप दे और न प्राण से वियोजित करे। यह धर्म ध्रुव, नित्य और शाश्वत है।'[15] इसका व्यापक दृष्टिकोण ध्वनित होता है—प्रत्येक आत्मा समान है। जैसे मुझे सुख प्रिय और दुख अप्रिय है। वैसे ही एक छोटे-से पौधे को भी दुखानुभूति होती है।

आचारांग सूत्र का संदेश है—'मतिमान् पुरुष जीवों के अस्तित्व का मननकर—सब जीव अभय चाहते हैं, इस आत्मतुला को समझकर—किसी की भी हिंसा नहीं करता।'[16] आत्मतुला की अनुभूति से भावित साधु पूर्ण अहिंसक जीवन जीने के संकल्प से छह जीव निकाय की हिंसा का परित्याग करता है। जब आत्मतुला का विकास हुआ तब यही आत्मतुला अद्वैत के स्वर में मुखरित हुई। अहिंसा का अद्वैत स्वरूप प्रकट करते हुए कहा—'जिसे तू हनन-योग्य मानता है, वह तू ही है। जिसे तू आज्ञा में रखने योग्य मानता है, वह तू ही है, जिसे तू परिताप देने योग्य मानता है, वह तू ही है। जिसे तू दास बनाने योग्य मानता है, वह तू ही है। जिसे तू मारने योग्य मानता है, वह तू ही है।'[17] इसके आशय को स्पष्ट करते हुए भाष्यकार आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने लिखा—जिसे तू हनन-योग्य मानता है, वह तू ही है। इस वाक्य में आत्मा का अद्वैत प्रतिपादित है। जिसको तू मारना चाहता है, वह तेरे से भिन्न नहीं है। क्या तू उसकी घात करता हुआ स्वयं की घात नहीं कर रहा है? इस अद्वैत की अनुभूति से हिंसा से सहज विरति हो जाती है। जहां द्वैत की या पर की अनुभूति होती है, वहां हनन आदि का प्रसंग आता है। इसलिए यहां आत्मा के स्वरूपगत अद्वैत का उपदेश दिया गया है। इसी कसौटी पर अन्य आलापकों के विषय ज्ञातव्य हैं।[18] इससे प्रकट होता है कि आचारांग अद्वैत के कर्तव्य के निर्वचन का ग्रंथ है। इसमें केवल इतना ही नहीं बताया गया— किसी जीव को मत मारो, किंतु यह निर्देश भी दिया गया कि प्रत्येक प्राणी के साथ अद्वैत स्थापित करो। प्रत्येक प्राणी के साथ अद्वैत की अनुभूति अहिंसा का महान प्रयोग है। जब तक यह अनुभूति जागृत नहीं होती तब तक कोई अहिंसक बन नहीं सकता। जब तक प्रत्येक प्राणी के साथ एकात्मकता की अनुभूति नहीं जागती तब तक हिंसा का संस्कार टूटता नहीं है।

अद्वैतानुभूति के स्तर पर हिंसा-विरति का भाव पुष्ट बनता है। इस कथन को स्थापित करने वाली वीतराग वाणी 'सब आत्माएं समान हैं'—यह जानकर पुरुष समूचे जीव लोक की हिंसा से उपरत हो जाए।[19] इस सूत्रात्मक कथन को भाष्यकार ने गहराई से पकड़कर नए तथ्य का प्रतिपादन किया। उन्होंने कहा—'लोक' का अर्थ है—जीव समूह—'सभी प्राणियों की आत्मा समान है' यह जानकर मुनि हिंसा

से उपरत हो जाता है। जिन-जिन हेतुओं से जीवों का वध होता है, वे सारे हेतु शस्त्र कहलाते हैं। अहिंसक और अपरिग्रही व्यक्ति सभी शस्त्रों से उपरत होता है। यहां अहिंसा के संदर्भ में समता का अर्थ है—आत्मतुला, सभी प्राणियों को अपनी आत्मा के समान समझना और अपरिग्रह के संदर्भ में समता का अर्थ है—लाभ, अलाभ आदि द्वंद्वों में समभाव रखना।[20]

जहां आगमोक्त परिभाषाओं के आलोक में अहिंसा का बहुआयामी स्वरूप प्रकट हुआ है, वहीं चिंतन के कतिपय मौलिक बिंदु भी उजागर हुए हैं—

अहिंसा का मुख्य आधार है समता—सब जीवों के प्रति समता की अनुभूति। सभी जीव—शरीर, जाति, वर्ण आदि नानात्व में विभक्त हैं। विभक्त में अविभक्ति को खोजना अहिंसा का मुख्य आधार है। समतावादी दृष्टि का विकास हुए बिना यह खोज संभव नहीं।

शक्ति-संतुलन के बिना अहिंसा का विकास संभव नहीं—एक व्यक्ति या वर्ग शक्ति का प्रदर्शन कर दूसरे व्यक्ति या वर्ग को अधीन रखना चाहता है। अधीनीकृत व्यक्ति या वर्ग के मन में इस हिंसा की प्रतिक्रिया होती है। इस असंतुलित शक्ति के वातावरण में हिंसा की आग भभक उठती है। इसी अनुभूति के क्षण में भगवान महावीर ने कहा था—'न अज्झावेयव्वा'—किसी भी मनुष्य पर हुकूमत मत करो, उसे अपने अधीन बनाकर मत रखो। यह अहिंसा का मूलमंत्र है। इसकी वेदी पर ही अहिंसा की प्रतिमा प्रतिष्ठित हो सकती है।

विराट प्रेम ही अहिंसा है, जिसकी गहराई सर्वभूत-साम्य की भावना से उत्पन्न होती है और आत्मौपम्य की सीमा में फिर विलीन हो जाती है।

आत्मौपम्य शब्द के प्रयोग से अहिंसा के मौलिक स्वरूप एवं औचित्य को और अधिक स्पष्टता मिलती है।

आगमों में वर्णित अहिंसा के इस विमर्श से यह कहा जा सकता है कि जहां अहिंसा मोक्ष-प्रदायिनी सिद्ध है, वहीं स्वस्थ समाज-व्यवस्था के सूत्र भी उसमें निबद्ध हैं। अहिंसा को मात्र निषेधात्मक वृत्ति समझना बड़ी भूल होगी। यह जितनी निवृत्तिमूलक प्रतीत होती है उससे अधिक इसका स्वरूप विधेयात्मक है। ❖

संदर्भ

1. दशवैकालिक 6/9 'अहिंसा निउणं दिट्ठासव्वभूएसु संजमो।'
2. दशवैकालिक चूर्णि, पृ. 15 'अहिंसानाम प्राणातिवायविरति।'
3. सूत्रकृतांग 1/1/113 'उड्ढ अहे च तिरियं, जे केइ तसथावरा। सव्वत्थ विरइ कुज्जा संति निव्वाणमाहियं।।'
4. दशवैकालिक 8/3 'तेसिं अच्छणजोएण निच्चं होयव्वं सिया। मणसा कायवक्केण, एवं हवइ संजए।।'
5. जैन लक्षणावली, पृ. 164
6. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, पृ. 44 'अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेत्ति।'
7. उत्तराध्ययन सूत्र, 19/25—'समया सव्व भूएसु सत्तुमित्तेसुवा जगे।'
8. आचारांग 1/4/1,2 : 'सव्वे पाणा, सव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता न हन्तव्वा, न अज्झावेयव्वा न परितवेव्वा, न परितावेयव्वा, न उद्दवेयव्वा एस धम्मे धुए, नियए सासए...'
9. आचारांग भाष्यम्, पृ. 207-8
10. पुरुषोत्तम महावीर, पृ. 40-41
11. भगवती सूत्र, शतक 7, उद्देशक 6
12. सूत्रकृतांग सूत्र 7-11 'पुढवीं जीवा...सव्वत्थ विरतिं विज्जा, संति निव्वाण माहियं।' अहिंसा विवेक, पृ. 21-22
13. सूत्रकृतांग सूत्र 1/10/3 आय तुले पयासु...
14. दशवैकालिक सूत्र 10/5 'अत्तसमे मन्निज्ज छप्पिकाए।'
15. सूयगड़ो अ. 1, सू. 56—'से जहाणामए मम असायं दंडेण वा अट्ठीण वा मुट्ठीण वा लेलुण वा कलालेण वा...सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता दंडेण वा...सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता ण हंतव्वा ण अज्जावेयव्वा ण परिघेतव्वा ण परितावेयव्वा ण उद्दवेयव्वा।'
16. आचारांग, अ. 1 उ. 5. सू. 91—'मंता मइमं अभयं विदित्ता।'
17. आचारांग, अ. 5, 305, सू. 101/'तुमंसि नाम सच्चेव जं हंतव्वं त्ति मन्नसि, तुमंसि नाम सच्चेव जं 'अज्जावेयव्वं' ति मन्नसि, तुमंसि नाम सच्चेव जं 'परितावेयव्वं' ति मन्नसि, तुमंसि नाम सच्चेव जं 'परिघेतव्वं' ति मन्नसि, तुमंसि नाम सच्चेव जं 'उद्दवेयव्वं ति मन्नसि।'
18. आचारांग भाष्यम्, पृ. 282
19. आचारांग अ. 3 उ. 1 सूत्र-3 'सयं लोगस्स जणिता, एत्थ सत्थोवरए।'
20. आचारांग भाष्यम्, पृ. 164

❖❖

मेरा विश्वास है कि आज का संपूर्ण चिकित्साशास्त्र यदि समुद्र में डूबो दिया जाए तो यह मनुष्यों का परम सौभाग्य होगा, किंतु मछलियों का परम दुर्भाग्य।

—होम्स

भाषा के इस महत्त्व से यह भी स्पष्ट होता है कि सामाजिक असमानता पैदा करने में भी भाषा की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। हिंसा के कई स्वरूप ऐतिहासिक रूप से भाषा में विद्यमान रहे हैं। कभी 'प्राचीन भाषा कौन-सी है' इसे लेकर विवाद उठे हैं, तो कभी इस बात पर कि भाषा उपनिवेशवादी नीतियों का आधार रही है। भाषा की समृद्धि के आधार पर राष्ट्रों का वर्चस्व स्थापित करने की कोशिश भी हुई है। कभी किसी भाषा की अस्मिता अथवा उसे स्वीकारने को लेकर विवाद हुए हैं, तो भाषा को हथियार बनाकर संचार युद्ध की स्थितियां भी पैदा हुई हैं।

❑ डॉ. बच्छराज दूगड़ ❑

भाषा और हिंसा

एक सांस्कृतिक समाज में भाषा बोलचाल और संप्रेषण का माध्यम है। यही एक सशक्त साधन है जिसके द्वारा अधिकांश मानव-विचार संप्रेषित किए जाते हैं। अधिकांश सामाजिक और सांस्कृतिक व्यवहार भाषा द्वारा ही व्यक्त होते हैं। विश्व के सभी पदार्थों के नामकरण के अतिरिक्त वस्तुओं से हमारे संबंधों को भी भाषा ही अभिव्यक्त करती है। भाषा की समाज में दो मुख्य भूमिकाएं हैं—यह संस्कृति और समाज के बारे में सूचनाओं का स्रोत है और ऐसा साधन भी है जिसके द्वारा समाज के सदस्यों का समाजीकरण होता है। इसी के माध्यम से वे एक-दूसरे से अंतर्क्रियाएं करते हैं। समाज में एक व्यक्ति के स्थान को भी भाषा निर्धारित करती है। सामाजिक स्थिति और उसकी शक्ति का निर्धारण भी भाषा से होता है।

भाषा के इस महत्त्व से यह भी स्पष्ट होता है कि सामाजिक असमानता पैदा करने में भी भाषा की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। हिंसा के कई स्वरूप ऐतिहासिक रूप से भाषा में विद्यमान रहे हैं। कभी 'प्राचीन भाषा कौन-सी है' इसे लेकर विवाद उठे हैं, तो कभी इस बात पर कि भाषा उपनिवेशवादी नीतियों का आधार रही है। भाषा की समृद्धि के आधार पर राष्ट्रों का वर्चस्व स्थापित करने की कोशिश भी हुई है। कभी किसी भाषा की अस्मिता अथवा उसे स्वीकारने को लेकर विवाद हुए हैं, तो भाषा को हथियार बनाकर संचार युद्ध की स्थितियां भी पैदा हुई हैं। भाषा और हिंसा से जुड़े कतिपय बिंदुओं पर हम थोड़ा विचार करें—

1. भाषा की प्राचीनता को लेकर विवाद

प्रारंभिक अध्ययनों में संस्कृत को सभी भाषाओं में प्राचीनतम माना गया। संस्कृत भाषा में शब्द, धातु, रूपावली, वाक्य-विन्यास आदि पूरी तरह सुरक्षित हैं जबकि यूरोप की भाषाओं को समग्र पूंजी का एक लघु अंश ही प्राप्त है। ऐसी स्थिति में विद्वानों को लगता रहा कि मूल भाषा या तो भारत में बोली जाती थी या इसके आस-पास के सटे क्षेत्र में तथा मूल भाषा वैदिक भाषा से अधिक भिन्न नहीं थी। यह सचाई यूरोप के लिए एक कड़वा घूंट थी। अतः यह प्रयत्न चलता रहा कि वेद को भारत से बाहर रचा हुआ सिद्ध कर दिया जाए या इसकी प्राचीनता को कुछ कम किया जाए। किसी भाषा के महत्त्व को कम आंकने तथा उसके उद्गम को गलत सिद्ध करने के लिए यह एक व्यापक षड्यंत्र था। इस षड्यंत्र के पक्ष में जो तर्क दिए गए वे पूरी तरह थोथे निकले। एक दावा यह भी किया गया कि वेद के पुराने अंश भारत से बाहर, संस्कृत में नहीं, भारोपीय भाषा में रचे गए हैं। दूसरा दावा यह किया

गया कि यूरोप की भाषाएं कुछ सीमा तक संस्कृत की गुत्थियां सुलझा सकती हैं। पहला तर्क तो निराधार था ही, जबकि दूसरे तर्क का भी कोई अर्थ नहीं था, क्योंकि भारतीय बोलियों में मिलने वाले संस्कृत के तद्भव रूपों के आधार पर यह दावा अधिक मजबूत और औचित्यपूर्ण माना गया कि यूरोप की भाषाओं में अनेक रूपों पर ये बोलियां अधिक प्रकाश डालती हैं।

मूल भाषा को खींचकर यूरोप में ले जाने में भी समस्या थी। उन लोगों से पूर्व, जो यह भाषा बोलते थे, अपना रक्त संबंध उनके साथ जोड़ने और अपने देश को उस भाषा का मूल क्षेत्र सिद्ध करने की होड़-सी मची। यह आग्रह जर्मन विद्वानों में सर्वाधिक था, क्योंकि उनका मानना है कि जर्मन ही विश्व की सर्वाधिक शुद्ध भाषा है। जिनकी भाषा शुद्ध होती है उनकी संस्कृति भी उच्च होती है, इसलिए उन्हें दूसरों पर शासन करने का अधिकार मिल जाता है। उनकी यह मिथ्या धारणा औपनिवेशिक काल में हिंसा और किसी राष्ट्र को गुलाम बनाने का महत्त्वपूर्ण आधार बनी। जर्मन के साथ फ्रांसीसी भी अपने को शुद्ध आर्य सिद्ध करने और मूल भाषा को अपने देश में खींच लाने के लिए कम व्यग्र नहीं थे। इस नोंक-झोंक में दोनों के बीच अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए काफी तकरारें हुईं।

विवाद के फलस्वरूप यह भी निश्चित नहीं हो पाया कि यह भाषा यूरोप में कहां बोली जाती थी। विवाद से बचने के लिए कह दिया गया—'यूरोप में कहीं।' मूल भाषा के नामकरण को लेकर भी काफी विवाद हुआ और अंततः इसके लिए 'इंडो यूरोपीय' अर्थात् 'भारोपीय' शब्द स्वीकार किया गया। साझा संपदा बनाने के पश्चात् भाषा को रक्त से जोड़ते समय नैन-नक्श के सवालों पर फिर विवाद होते रहे। तीव्र खींचतान के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला गया कि भाषा का रक्त-संबंध से कोई रिश्ता नहीं है। पर जर्मन औपनिवेशिक मानसिकता में बीसवीं शताब्दी तक आर्य-जाति और रक्त का दावा बना रहा। इस भाषा के भारत पहुंचने का यह आधार उन्होंने दिया कि आर्यों ने भारत पर आक्रमण किया तथा उन्होंने यहां अपनी सत्ता स्थापित की। ऋग्वेद में देवों-दानवों में देवों को गोरा व असुरों को काला बताया गया। इस आधार पर कालों (भारतीयों) पर गोरे (आर्यों) की विजय दिखाई गई। इस तथ्य को दर-किनार कर दिया गया कि प्रकाश और अंधकार की शक्तियों के बीच युद्ध का अर्थ कुछ दूसरा ही होता है। 'भारोपीय' भाषा भारत में आर्य आक्रमण से पहुंची, औपनिवेशिक सत्ता को जायज ठहराने के लिए यह अवधारणा आरोपित की गई।

अतः यह निर्विवाद प्रमाणित हो जाता है कि भारोपीय मूलभाषा के विषय में समस्त विवाद और मान्यताएं यूरोप की वर्चस्ववादी महत्त्वाकांक्षाओं की जरूरतों के अनुरूप तैयार की गईं और इस मानसिकता के कारण दुनिया ने दो विश्वयुद्ध झेले।

(2) विचार, भाषा और संघर्ष

मानव मस्तिष्क को हिंसा के लिए उतरदाई माना जाता है। यूनेस्को की प्रस्तावना में कहा गया है—युद्ध पहले मानव मस्तिष्क में लड़े जाते हैं, फिर समरांगण में। विचार महत्त्वपूर्ण हैं, किंतु यदि भाषा न हो तो विचारों का संप्रेषण ही न हो सके। विचार संप्रेषण के लिए भी भाषा आवश्यक है तथा विचारों के प्रसारण में भी भाषा की आवश्यकता अनिवार्यतः जरूरी है। विचार केवल मस्तिष्क तक ही सीमित रहें और भाषा के द्वारा संचारित न हों तो बहुत-से संघर्ष टल सकते हैं।

'परमाणु युद्ध कैसे रोका जाए'—इस विषय पर आयोजित सम्मेलन में दो डॉक्टरों—जिनमें एक कट्टरपंथी व दूसरा उदारवादी था—के बीच संघर्ष छिड़ गया। कारण यह था कि दो विरोधी राजनीतिक विचारों का प्रतिनिधित्व करने वालों में से एक तो परमाणु युद्ध संगठनों को मजबूत करके रोकना चाहता था, जबकि दूसरा निशस्त्रीकरण समूहों के माध्मम से युद्ध रोकने का मार्ग सुझा रहा था। दोनों ही युद्ध रोकने की बात कर रहे थे, जबकि युद्ध रोकने के मुद्दे पर विचार-विमर्श करने वालों के बीच ही युद्ध छिड़ गया। यह कमाल था भाषाई संप्रत्ययों का। वे मूल उद्देश्यों को भूलकर भाषाई-प्रक्रिया से उठे द्वंद्व में ही इतना उलझ गए कि 'विचार' ने संघर्ष का रूप ले लिया।

(3) उच्चवर्गीय एवं निम्नवर्गीय भाषा, उपनिवेशवाद एवं संघर्ष

विंट्गिन्सटाइन ने एक टिप्पणी करते हुए लिखा है—'भाषा तो सभी के लिए एक जैसा ही जाल बिछाती है। यह भटका देने वाले मोड़ों वाली अंतहीन भूल-भुलैया है। केवल अपनी भाषा के शब्दों को ही संभाव्य प्रतिमान मानकर हम हमेशा दूसरों के साथ न्याय करने से चूक जाते हैं। इसलिए कभी तो हम उन्हें ऊंचा आंकते हैं, और कभी नीचा।' भाषा और बोलने के विभिन्न तरीके प्रायः पदानुक्रमानुसार व्यवस्थित होते हैं। जबकि उनके बोलने वाले असमान स्तर, असमान शक्ति, और असमान

अधिकारों वाले होते हैं। इसलिए भाषा की प्रायः दो किस्में होती हैं—एक वह जो शिक्षा में प्रयुक्त होती है और दूसरी वह जो घर में प्रयुक्त की जाती है। पहली को हम उच्च भाषा एवं दूसरी को निम्न भाषा मानते हैं। कई सामाजिक एवं राजनीतिक कारणों के फलस्वरूप निम्न भाषा बहुत सीमित विचारों एवं क्षेत्र में प्रयुक्त की जाती है। यहां हमें भाषा की राजनीतिक अर्थव्यवस्था को समझना होगा कि क्यों ऐसे प्रतिबंध 'निम्न भाषा' पर लगे होते हैं?

एक दृष्टि तो यह है कि यह एक राष्ट्र के निर्माण की प्रक्रिया का प्रभाव है जो कुछ को शक्तिशाली केंद्र और कुछ को सहायक तथा परिधीय क्षेत्र बनाते हैं। इससे यह खतरा है कि भाषा आर्थिक एवं सत्ता के स्तरों का संस्कृतीकरण कर सकती है। केन्या के लेखक थिंगो (Thiongo) ने उपनिवेशवाद व नव उपनिवेशवाद पर भाषाई प्रभाव का अध्ययन किया। उन्होंने ब्लूम व गोम्पर्ज के एक अध्ययन में पाया कि एक व्यक्ति, जिसने घर में शिक्षा पाई, उसकी भाषा पारिवारिक, मैत्रीपूर्ण, स्थानीय स्वामी-भक्ति एवं समानता की थी, किंतु जिन्होंने स्कूल व चर्च में शिक्षा पाई उन्होंने अपना संबंध व्यवसाइयों, जमींदारों, प्रशासनिक लोगों के साथ जोड़ा तथा उनकी भाषा बाह्य लोगों के साथ असमानता की थी। गोम्पर्ज ने यह भी दर्शाया कि कैसे एक भाषा भिन्न सांस्कृतिक परंपराओं में संप्रेषण को समाप्त कर विवाद पैदा करती है। यूरोप, अमेरिका और कनाड़ा, जहां बहुभाषाएं और बहुसांस्कृतिक शिक्षा प्रचलित है, वहां एक अप्रवासी अंग्रेजी भाषी व्यक्ति महत्त्वपूर्ण स्थलों एवं शक्ति-केंद्रों पर तनावग्रस्त हो जाता है, क्योंकि उसकी घरेलू शिक्षा की भाषा भिन्न रही होती है। भाषा की भिन्नता सामाजिक भिन्नता भी लाती है तथा कुछ अध्ययनों में भाषा व सत्ता (शक्ति) को परस्पर संबद्ध माना गया है। एक राष्ट्र की मूल भाषा, दूसरे शब्दों में उच्च भाषा समकालीन समाज में बाह्य शक्ति का प्रतिनिधित्व करती है तथा योजना, व्यापार, संचार, धर्म एवं कानून आदि क्षेत्रों पर अपना वर्चस्व रखती है और ऐसी भाषा दूसरे भाषी लोगों को अपना अधीनस्थ मानने लगती है।

भाषा पर प्रतिबंध भी विवादों का कारण बनते हैं। महिलाओं को साधारणतया सामान्य भाषा विनिमय से कुछ सीमा तक प्रतिबंधित किया जाता है। इन्हें एक सीमित तरीके से ही भाषाई व्यवहार की छूट होती है। प्रायः यह देखा जाता है कि महिलाओं के व्याख्यानों में पुरुष व्याख्यानों की अपेक्षा भाषाई प्रतिबंध को ध्यान में रखकर टोका जाता है। यहां भी भाषा दो वर्ग तैयार कर देती है। ठीक उसी तरह जिस तरह एक राष्ट्र की उच्च भाषा निम्न भाषा को अपने अधीनस्थ बना लेती है।

(4) शब्दों द्वारा हिंसा

विशेष शब्द अपना विशेष प्रभाव छोड़ते हैं। कुछ मरहम का कार्य करते हैं तो कुछ विष-बुझे तीर का। 'अल-विदा' इन दो शब्दों में वेदना का संपूर्ण संसार निहित है। यह वेदना शब्दों से उसी तरह से अनुस्यूत है, जिस तरह बीज से वृक्ष। हम प्रायः पुरानी भाषा ही बोलते हैं किंतु इस प्रकार कि आधुनिक लगे। हालांकि यह जरूरी नहीं कि वह दूसरों की रुचि के अनुकूल हो। भाषा प्रारंभ में तो एक प्रतिक्रिया ही होती है।

द्रौपदी के ये वचन कि 'अंधे के तो अंधा ही पैदा होता है'—महाभारत का प्रमुख कारण बना। विंटगिन्सटाइन ठीक ही कहते हैं—'टिप्पणियां ही बोती हैं और टिप्पणियां ही काटती हैं।' (There are remarks that saw and remarks there reap.)

(5) संप्रेषण की सीमा से बढ़ती सांस्कृतिक दूरियां

भाषाई संप्रेषण समभाषी समुदाय में ही संभव है। दो अलग-अलग समुदाय, जिनकी भाषा और कलात्मक अभिव्यक्ति के संसार अलग-अलग हों, अपनी भावनाओं को एक-दूसरे तक पूर्णता से संप्रेषित नहीं कर सकते। उतना ही ग्रहण हो पाता है जितना दोनों में उभयनिष्ठ हो। शायद इसीलिए समुदाय से बाहर अन्य समुदाय में लोकप्रिय होने के लिए कलाओं के समक्ष भीड़ की कला बनने की मजबूरी होती है। जागतिक संस्कृति का यही रूप सामने आता है। ऐसा नहीं है कि कलाओं का विकास पश्चिम में होता ही नहीं, किंतु सामान्यतः हम वही ग्रहण करते हैं जो बहुत सतही होता है। इसीलिए हम कलाकार, विशेषकर पश्चिमी कलाकारों के व्यावसायिक जीवन, सेक्स-वृत्तांतों से तो परिचित हो जाते हैं, लेकिन उनकी गहन संवेदनाओं को नहीं छू पाते। भाषा-संप्रेषण की इसी सीमा से विभिन्न संस्कृतियों के बीच की खाइयां चौड़ी होती चली जाती हैं और कलाकार आत्मकेंद्रित।

(6) भाषाई ब्रह्मास्त्र द्वारा मीडिया-साम्राज्यवाद

मीडिया-साम्राज्यवाद एक ठोस सचाई है। विकसित पूंजीवादी राष्ट्रों के सांस्कृतिक हमले का प्रमुख अस्त्र मीडिया-साम्राज्यवाद है। आर्थिक प्रभुत्व कभी भी सांस्कृतिक प्रभुत्व के बिना जड़ें नहीं जमाता। सांस्कृतिक

शेष पृष्ठ 56 पर

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कोलकाता

संबोधन अलंकरण समारोह

जैन श्वेतांबर तेरापंथी महासभा मर्यादा महोत्सव के अवसर पर प्रतिवर्ष समाज के उन वरिष्ठ श्रावक-श्राविकाओं को अलकंरण प्रदान कर सम्मानित करती है जिन्हें युगप्रधान आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने उनकी जीवनगत श्रेष्ठताओं का मूल्यांकन करते हुए विशेष संबोधन से संबोधित किया है। इसके साथ ज्ञानशाला प्रोत्साहन पुरस्कार भी प्रदान किया जाता है। इस वर्ष मुंबई में आयोजित मर्यादा महोत्सव के अवसर पर दिनांक 6 फरवरी, 2003 को महासभा संबोधन अलंकरण व पुरस्कार प्रदान कर उन्हें सम्मानित करने जा रही है। सम्मान प्राप्त करने वाले श्रावक-श्राविकाओं अथवा उनके निकटतम परिवार-जनों के सम्मान में दिनांक 5 फरवरी, 2003 को सायंकाल एक 'मिलन संगोष्ठी' का आयोजन भी किया गया है। उक्त दोनों कार्यक्रमों में सपरिवार उपस्थित रहने हेतु सादर निवेदन है—

सुरेन्द्र चोरड़िया	**भंवरलाल सिंघी**	**तरुण सेठिया**
अध्यक्ष	संयोजक	महामंत्री

संबोधन अलंकरण सूची—

क्र.सं.	नाम	स्थान	अलंकरण
1.	स्व. श्री झूमरमलजी बच्छावत	कोलकाता	'शासन सेवी'
2.	स्व. श्री बाणमलजी चौपड़ा	पचपदरा	'तत्त्वज्ञ श्रावक'
3.	स्व. श्री जेठमलजी सेठिया	बीदासर	'तत्त्वज्ञ श्रावक'
4.	श्री अमृतलालजी चौपड़ा	पचपदरा	'श्रद्धानिष्ठ श्रावक'
5.	श्री सोहनराजजी संकलेचा	पचपदरा	'श्रद्धानिष्ठ श्रावक'
6.	स्व. श्री माणकचंदजी पटावरी	कोलकाता	'श्रद्धानिष्ठ श्रावक'
7.	स्व. श्री लालचंद झंडाणी	बायतू	'श्रद्धानिष्ठ श्रावक'
8.	श्री चंपालालजी संकलेचा	जसोल	'श्रद्धानिष्ठ श्रावक'
9.	श्री शंकरलालजी भंसाली	जसोल	'श्रद्धानिष्ठ श्रावक'
10.	स्व. श्री लक्ष्मीलालजी सिसोदिया	भीलवाड़ा (रायपुर)	'श्रद्धानिष्ठ श्रावक'
11.	श्री प्रभुभाई मेहता	बाव.	'श्रद्धानिष्ठ श्रावक'
12.	स्व. श्री भंवरलालजी बडोला	राजनगर	'श्रद्धानिष्ठ श्रावक'
13.	स्व. श्री धनराजजी बागरेचा	सुजानगढ़ (कोलकाता)	'श्रद्धानिष्ठ श्रावक'
14.	स्व. श्री चुन्नीलालजी सोलंकी	सायरा (सूरत)	'श्रद्धानिष्ठ श्रावक'
15.	स्व. श्री जेवंतराजजी मरलेचा	कंटालिया (पल्लावरम्)	'श्रद्धानिष्ठ श्रावक'
16.	स्व. श्री सरबतमलजी भण्डारी	जोधपुर (अहमदाबाद)	'श्रद्धानिष्ठ श्रावक'
17.	स्व. श्री चंपालालजी भंसाली (सेठिया)	असाढ़ा (गांधीधाम)	'श्रद्धानिष्ठ श्रावक'

क्र.सं.	नाम	स्थान	अलंकरण
18.	स्व. श्री डूंगरमलजी कोचर	रतनगढ़ (जोरहाट)	'श्रद्धानिष्ठ श्रावक'
19.	स्व. श्री बुद्धमलजी छाजेड़	सरदारशहर (अहमदाबाद)	'श्रद्धानिष्ठ श्रावक'
20.	स्व. श्री गणेशमलजी दूगड़	सरदारशहर (अहमदाबाद)	'श्रद्धानिष्ठ श्रावक'
21.	श्री हरीभाई मगनलाल मोदी	अहमदाबाद	'श्रद्धानिष्ठ श्रावक'
22.	श्री जयन्तीभाई बी. मेहता	बड़ौदरा	'श्रद्धानिष्ठ श्रावक'
23.	श्री मोहनलालजी पोरवाल	अहमदाबाद	'श्रद्धानिष्ठ श्रावक'
24.	श्री प्रेम महनोत	चूरू (मदुरैई)	'संघनिष्ठ कार्यकर्ता'
25.	स्व. श्रीमती लाडादेवी पटावरी	लाडनूं (गौहाटी)	'श्रद्धानिष्ठ श्राविका'
26.	श्रीमती सुंदरदेवी सोनी	सोजतरोड़	'श्रद्धा की प्रतिमूर्ति'
27.	स्व. श्रीमती धापूदेवी डूंगरवाल	दौलतपुर	'श्रद्धा की प्रतिमूर्ति'
28.	स्व. श्रीमती पदमादेवी सुराना	पड़िहारा	'श्रद्धा की प्रतिमूर्ति'
29.	स्व. श्रीमती गुलाबबाई लिलवाया	उदयपुर	'श्रद्धा की प्रतिमूर्ति'
30.	स्व. श्रीमती रुक्खमणीदेवी जैन	दिल्ली	'श्रद्धा की प्रतिमूर्ति'
31.	स्व. श्रीमती निर्मलादेवी जैन	हांसी	'श्रद्धा की प्रतिमूर्ति'
32.	स्व. श्रीमती राधीबाई कोठारी	गजपुरघाटा	'श्रद्धा की प्रतिमूर्ति'
33.	श्रीमती चंपादेवी मुणोत	चूरू (कोलकाता)	'श्रद्धा की प्रतिमूर्ति'
34.	स्व. श्रीमती शांतिदेवी बेगाणी	बीदासर	'श्रद्धा की प्रतिमूर्ति'
35.	स्व. श्रीमती लीलादेवी डागा	गंगाशहर	'श्रद्धा की प्रतिमूर्ति'
36.	स्व. श्रीमती कंकुबाई मरलेचा	कंटालिया (पल्लावरम्)	'श्रद्धा की प्रतिमूर्ति'
37.	श्रीमती सुमित्रादेवी जैन	हांसी	'श्रद्धा की प्रतिमूर्ति'
38.	स्व. श्रीमती भूरीदेवी दूगड़	सरदारशहर (अहमदाबाद)	'श्रद्धा की प्रतिमूर्ति'
39.	श्रीमती झनकारदेवी बैद	सरदारशहर (अहमदाबाद)	'श्रद्धा की प्रतिमूर्ति'
40.	श्रीमती घीसीबाई	पडप्पै (चैन्नई)	'श्रद्धा की प्रतिमूर्ति'
41.	श्रीमती कस्तूरीदेवी सेखानी	अहमदाबाद	'श्रद्धा की प्रतिमूर्ति'
42.	श्रीमती रूपादेवी बुरड़	अहमदाबाद	'श्रद्धा की प्रतिमूर्ति'
43.	श्रीमती किरणदेवी सेठिया	अहमदाबाद	'श्रद्धा की प्रतिमूर्ति'
44.	श्रीमती सुशीलाबहन मेहता	अहमदाबाद (बाव)	'श्रद्धा की प्रतिमूर्ति'
45.	श्रीमती प्रेमलता कोठारी	अहमदाबाद (मेवाड़)	'श्रद्धा की प्रतिमूर्ति'
46.	श्रीमती किरणदेवी गोलछा	भीनासर	'श्रद्धा की प्रतिमूर्ति'
47.	श्रीमती इंद्रादेवी जैन	दोण्डायचा	'श्रद्धा की प्रतिमूर्ति'
48.	श्रीमती शांतिदेवी कोठारी	अहमदाबाद (मेवाड़)	'श्रद्धा की प्रतिमूर्ति'

❖

अनुभूति

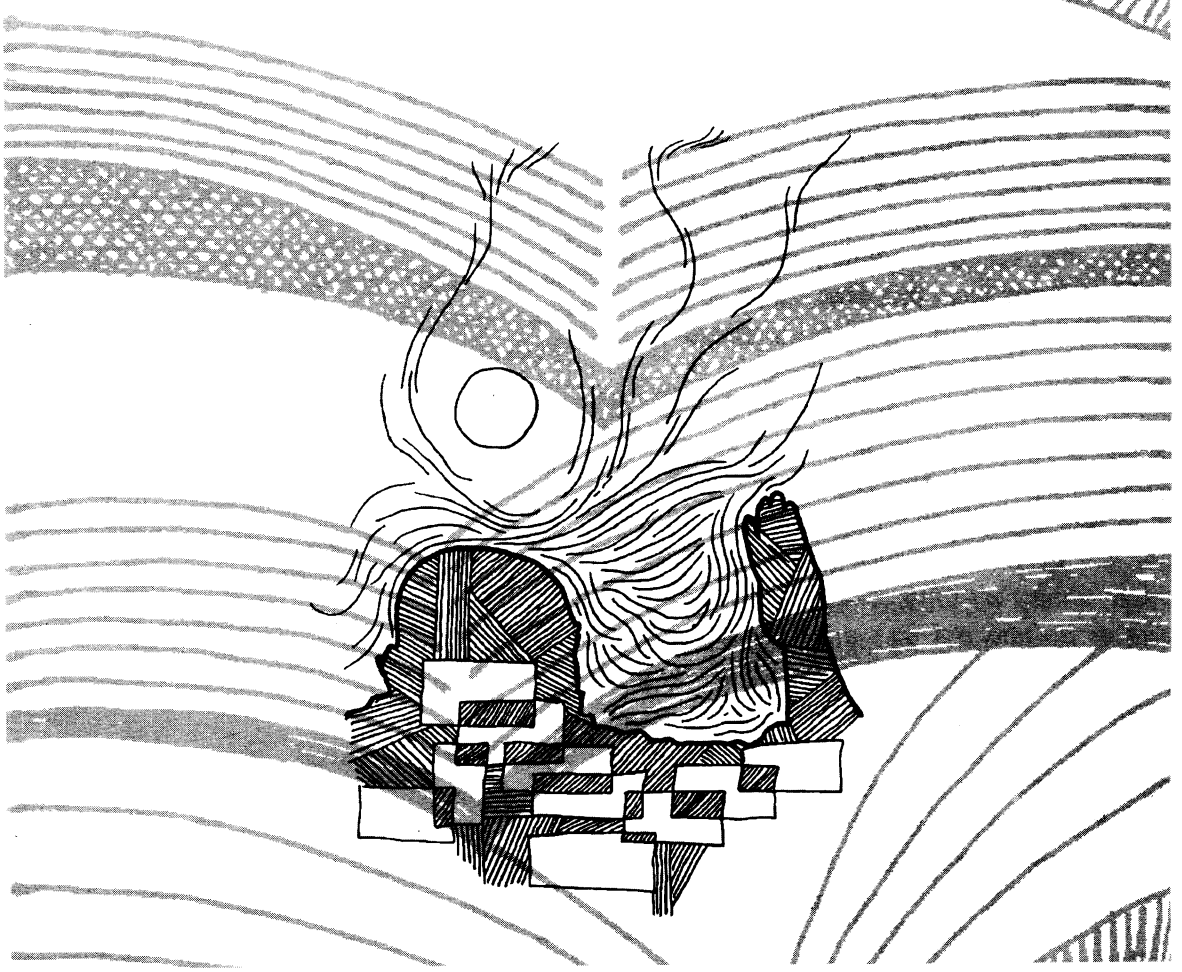

जरूरी नहीं, आत्म-परीक्षण के अभाव में सृजन-शक्ति कुंठित हो, बल्कि अक्सर देखा गया है कि अपनी विधा के प्रति अत्यधिक बौद्धिक सतर्कता कभी-कभी मुक्त, सहज, निर्दोष प्रेरणा को बोझिल और बनावटी बना देती है। किंतु इससे अगर कोई लेखक यह सुविधाजनक निष्कर्ष निकाल ले कि भाषा और विधाओं के बारे में माथापच्ची एक व्यावसायिक आलोचना का काम है, कलाकार का अपना कर्म नहीं, तो शायद स्वयं कला के लिए इससे आत्मघाती भ्रम कोई दूसरा नहीं। सृजनात्मक कल्पना अपने सर्वोत्तम क्षणों में उतनी ही आलोचनात्मक होती है, जितनी व्यावसायिक आलोचना अपने गरिमापूर्ण क्षणों में सृजनात्मक। सृजन और आलोचना को अलग-अलग कटघरों में बांटकर हम एक तरफ आलोचना को निर्जीव और पंगु बना देते हैं, दूसरी तरफ सृजन को महज एस्थेटिक सौंदर्य का साधन मात्र। हम अक्सर भूल जाते हैं कि कल के आधुनिक आंदोलन, जिनकी शुरुआत बीसवीं शती के आरंभ में हुई थी, की प्रमुख विशेषता यह प्रखर आलोचनात्मक दृष्टि ही थी।

—निर्मल वर्मा

जैन धर्म और कबीर दोनों ने ही निरंजन, निराकार, परमशुद्ध आत्मारूप परमात्मा को ही 'सुदेव' कहा है और उसी की भक्ति को ग्राह्य माना है। शेष राग-मोहादिग्रस्त प्रापंचिक देवी-देवताओं की भक्ति का दोनों ने निषेध किया है। फलतः दोनों ने आडंबरहीन, समर्पण-भावयुक्त निःस्वार्थ भक्ति को ही फलदायिनी माना है। तीर्थंकरों की धर्मसभा का वर्णन, उनके कल्याण के समय देवी-देवताओं के आगमन के वर्णन बाह्य आडंबर से परिपूर्ण हैं। इसीलिए इन्हें गौण मानते हुए ध्येयरूप स्वीकार नहीं किया गया। यही स्थिति कबीर-साहित्य में मिलती है, जहां अवतारी परमेश्वर के गुणगान तथा राजसी वैभव के वर्णन आदि का अत्यधिक आडंबर से मुक्त होने के कारण कबीर द्वारा निषेध ही किया गया है।

❑ डॉ. जिनेन्द्र जैन ❑

भक्ति : जैन धर्म और कबीर

भारतीय संस्कृति की विभिन्न जन-उपासना पद्धतियों में 'भक्ति' का महत्त्व उतना ही है, जितना कि ध्यान, योग, चारित्र, श्रद्धा, व्रत, उपवास, पूजा, कर्म आदि विविध धर्म-बोधक तत्त्वों का है। साधना के क्षेत्र में प्राचीनकाल से ही ज्ञान, भक्ति और कर्म मुख्य तत्त्व माने गए हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल[1] इनके स्थान पर कर्म, ज्ञान और उपासना की त्रिवेणी को 'लोकधर्म' के तीन तत्त्व स्वीकार करते हैं। इन तीनों की पूर्णता में ही वे व्यक्ति की पूर्णता मानते हैं। देश-काल-वातावरण के अनुसार यह देखने में आता रहा है कि कभी ज्ञान-मार्ग को प्रधानता दी गई, तो कभी भक्ति या उपासना-मार्ग प्रमुखता से स्वीकार किया गया, तो कभी श्रेयस् की प्राप्ति में कर्म-मार्ग को श्रेष्ठ समझा गया। इतना अवश्य है कि इन तीनों तत्त्वों के माध्यम से प्राचीनकाल से ही 'हेय' और 'उपादेय' का ज्ञान कराकर आचार्यों ने 'हेय' को त्यागने और 'उपादेय' को स्वीकार करने का उपदेश दिया तथा मानवमात्र को धर्म की ओर प्रेरित किया। यह प्रेरणा सभी साधना-मार्गों में देखने को मिल जाती है। भगवती आराधना के रचनाकार शिवार्य कहते हैं—

कबीर पुण्यतिथि पर विशेष

कायव्वमिणमकायव्वयत्ति णाऊण होइ परिहारो।
तं चेव हवइ णाणं तं चेव य होइ सम्मत्तं।।[2]

कर्तव्य-अकर्तव्य को जानकर कर्तव्य के प्रति हमारी जो सम्यक् आस्थारूप क्रिया होगी, भक्ति वहीं से प्रारंभ हो जाती है। फलतः उपादेय की प्राप्ति में 'भक्ति' आलंबनपूर्वक श्रद्धा या विश्वास के रूप में व्याप्त रहती है।

ज्ञान, भक्ति और कर्म अथवा कर्म, ज्ञान और उपासना की पूर्णता को यदि जैन दर्शन के परिप्रेक्ष्य में देखें तो ये सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र की पृष्ठभूमि में विद्यमान हैं। श्रद्धा या भक्तिपूर्वक किया गया रत्नत्रयाराधन ही परम तत्त्व के प्रकटीकरण में समर्थ होता है।

भक्ति का स्वरूप

भक्ति शब्द 'भज्' धातु से निष्पन्न है, जिसकी व्याख्या कई तरह से की जाती है। कभी भक्ति को सेवा, पूजा, उपासना, श्रद्धा, अनुराग आदि के अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है[3] तो कभी वह भवबंधन-विनाशक के रूप में मोह, शोक, भय आदि के विनाश करने के लिए प्रयुक्त होती है।[4] भक्ति

आत्मा के शुद्ध स्वरूप में विचरने में समर्थ होने से परमसिद्धि से विभूषित भी कही जाती है[5] तथा आत्म-तत्त्व को दीप्त करने की शक्ति से संपन्न होने के कारण प्रकाश, दीप्त, चेतना आदि के लिए भी भक्ति का प्रयोग किया जाता है।[6] यद्यपि भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त होने पर भी भक्ति के सभी अर्थ एक-दूसरे के पूरक हैं। क्योंकि भक्ति के फल को प्राप्त करने में सर्वप्रथम सेवा, उपासना, रूप-गुणोत्कीर्तन मूल आधार बनते हैं। तत्पश्चात् भक्त अपनी चित्तवृत्तियों के कलुषित विचारों, गुणों का नाश करके शुद्धात्मस्वरूप में रमण करता है और अंततः अपने अंतस को ज्ञान से आलोकित करता है। ये भक्त के भक्ति-विषयक विकास के सोपान कहे जा सकते हैं।

समस्त भारतीय वांग्मय में 'भक्ति' शब्द को परिभाषित किया गया है। पतंजलि के 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' नामक सूत्र की व्याख्या करते हुए प्रणिधान को भक्ति विशेष कहा गया है।[7] गीता में श्रद्धा को ही भक्ति कहा गया है। क्योंकि सत्यंशिवंसुंदरम् में श्रद्धा रखकर वह पुरुष भी श्रद्धावान हो जाता है।[8] ऐसी श्रद्धा का मूल आधार भक्ति ही है। गीताकार कहते हैं—'मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः।[9] अर्थात् जिसने मुझे अपना मन और बुद्धि अर्पित कर दी, वह भक्त मुझे प्रिय है। मन और बुद्धि का अर्पण यहां क्रमशः प्रेम और श्रद्धा का सूचक है और वही भक्ति है।

मध्यकाल तथा आधुनिक युग में भी भक्ति का विशेष वर्णन किया गया है। मध्यकालीन भक्ति-आंदोलन में भक्ति के अनेक रूप सामने आए। उपासना, साख्यभाव, दास्यरूप, सुगुरु, सुदेव, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि रूप भक्ति के क्रम में प्राप्त होते हैं। आधुनिक युग में हिंदी साहित्य के आलोचक आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने 'चिंतामणि'[10] नामक संग्रह में 'श्रद्धा एवं प्रेम के योग' को भक्ति कहा है।

जैनाचार्यों ने भी भक्ति के ऊपर अपनी-अपनी लेखनी चलाई है, जहां पर विशुद्ध प्रेम एवं अनुराग को भक्ति कहा गया है। धवलाकार आचार्य वीरसेन लिखते हैं कि अरहंतों आदि में जो गुणानुरागरूप भक्ति होती है वह अरहंतभक्ति है।[11] पूज्यपादस्वामी ने कहा कि अर्हंत, आचार्य, बहुश्रुतः और प्रवचन—इनमें भावों की विशुद्धता के साथ अनुराग रखना भक्ति है।[12] भगवती आराधना के टीकाकार अपराजितसूरि के अनुसार—अर्हदादिगुणानुरागो भक्तिः।[13] गाथा 119 की टीका में उन्होंने लिखा है—'वदननिरीक्षणादिप्रसादेन अभिव्यज्यमानोऽन्तर्गतोऽनुरागः भक्तिः'—अर्थात् मुख की प्रसन्नता से प्रकट होने वाले आंतरिक अनुराग को भक्ति कहते हैं। इस प्रकार जैन धर्म में उपास्य या इष्ट के प्रति बुद्धियुक्त अनुराग रखना ही भक्ति कहा गया है, जो बाद में नारद के भक्ति-सूत्र में प्रतिष्ठित हुआ है।[14]

जैन धर्म एवं दर्शन के ग्रंथों में सम्यक् दर्शन के अनेक पर्यायवाची शब्द मिलते हैं। उनमें भक्ति भी एक भेद मिलता है। इसके अतिरिक्त सम्यक् दृष्टि, सम्यक्त्व, सम्यक् श्रद्धा, सम्यक् विश्वास, निष्ठा, प्रतीति, रुचि, आस्था एवं सम्यक् बोध अपर नाम हैं।[15] जैन धर्म में भक्ति का विकास-क्रम देखना चाहें तो हमें एक स्वतंत्र एवं विस्तृत विधा प्राप्त होती है, जिसमें विविध रूपों में भक्ति का स्वरूप समझाया गया है—वह है स्तोत्र साहित्य जहां भक्त, भक्ति एवं भगवत्—इन तीनों पदों को विस्तार से समझाया गया है। इससे पूर्व जैन अंग आगम के ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र आदि में अरिहंत, सिद्ध, प्रवचन, गुरु आदि के प्रति भक्ति के अर्थ में वात्सल्य शब्द का प्रयोग किया गया है, जो विशुद्ध प्रेम, निःस्वार्थ स्नेह एवं अलौकिक अनुराग का सूचक है। उमास्वामी, आचार्य कुंदकुंद, पूज्ययाद जिनसेनाचार्य, समन्तभद्र, सोमदेवसूरि, वादिराज प्रभृति तथा स्तोत्र साहित्य के रचनाकार एवं परमात्मप्रकाश, योगसार, पाहुडदोहा, सावयधम्मदोहा आदि संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश सभी भाषाओं में भक्तिपरक जैन रचनाएं मिलती हैं। इन रचनाकारों ने भक्ति को दर्शन, ज्ञान और चारित्र के साथ ही प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में स्वीकार किया है।

जैन धर्म न केवल ज्ञानप्रधान धर्म है, वरन उसमें दर्शन, ज्ञान व चारित्र की समन्वित त्रिवेणी के प्रवाहित होने से भक्ति एवं कर्म भी संवाहक बन जाते हैं। यदि भक्ति से रहित होकर जैन धर्म की विचारणा करेंगे, तो मध्यकालीन भक्तिकाल की निर्गुणी शाखा के कवियों को भी जोड़ना होगा। अतः भक्ति को हर क्षेत्र में स्वीकारते हुए जैन धर्म एवं कबीर की भक्ति-विषयक भावनाओं का सम्यक् विवेचन करना लेख का अभिधेय है।

कबीर दर्शन में भक्ति का विशेष महत्त्व है। क्योंकि उन्होंने अपनी साखियों, दोहों, रमैणी, सबद आदि सभी खंडों में जिन विषयों को उठाया है उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि गुरुभक्ति, आत्मसमर्पण, कांताभाव, सेव्य-सेवकभाव, शूरभाव, सतीभाव आदि बिंदुओं का विवेचन उनकी भक्ति-भावना को ही प्रदर्शित करता है। यद्यपि अपने ग्रंथों में 'भक्ति' शब्द को तो उन्होंने परिभाषित नहीं किया, फिर भी उक्त बिंदुओं के संदर्भ में भक्ति के स्वरूप एवं महत्त्व पर प्रखर विचार प्रस्तुत किए हैं। कबीर वांग्मय के आलोड़न से यह स्पष्ट हो जाता है कि

भक्ति के अविरोधी/समर्थक तत्त्व उसके अभाव में निरर्थक हैं। कबीर कहते हैं—

क्या जप क्या तप संजमा क्या तीरथ व्रत अस्नान।
जो पैं जुगति न जानियां भाव भगति भगवान्।।
—कबीर ग्रंथावली (मिश्र), पद 121

कबीर की भक्ति में समर्पण मूल तत्त्व के रूप में प्रयुक्त हुआ है। इसीलिए समर्पित ज्ञानयोगी एवं कर्मयोगी को ही उन्होंने भगवान का सच्चा भक्त या सेवक कहा है।[16] कबीर ने अपनी भक्ति में जिस आराध्य का वर्णन किया है, वह उपनिषदों की अद्वैत भावना से प्रभावित है। किंतु कहीं-कहीं अद्वैत से भिन्न द्वैताद्वैत एवं विशिष्टाद्वैत के रूप में दिखाई देती है। अद्वैती भावना का उदाहरण द्रष्टव्य है—

कस्तूरी कुण्डलि बसे, मृग ढूंढे बन माहिं।
ऐसे घट घट राम हैं, दुनियां देखे नाहिं।।

× × × ×

मृगा पास कस्तूरी बास, आप न खोजै खोजै घास।

1. कबीर की उक्त भक्ति-विषयक धारणा को देखकर लगता है कि वे जैन धर्म में कथित भक्ति के स्वरूप के अत्यधिक निकट हैं। जैन धर्म में भक्ति ईश्वर के सान्निध्य (प्रणिधान) के लिए नहीं की जाती, बल्कि आत्मा को ईश्वररूप बनाने के लिए की जाती है। जैन धर्म में पंच परमेष्ठी को किया गया प्रणाम इस बात का द्योतक है कि भक्त उन गुणों को प्राप्त करने की कामना करता है। कबीर कहते भी हैं—

मेरा मन सुमिरे राम कूं, मेरा मन रामि आहि।
अब मन रामहि ह्वे रह्या, सीस नवावों काहि।।8।।
क.ग्र. (मिश्र)

उक्त पद में कबीर ने जहां यह सिद्ध किया है कि जिसे हम पूज्य मानते हैं—उसे ही सिर झुकाते हैं, वहीं प्रस्तुत पद में अद्वैत दर्शन भी प्रकट हुआ है। आत्मा और परमात्मा की समरसता को सिद्ध करने वाले उक्त दोहे पर जैन काव्यों का अक्षरशः प्रभाव पड़ा हुआ दिखाई देता है—

मणु मिलियउ परमेसरहं, परमेसरू वि मणस्स।
बीहि मि समरस हुवाहुं, पूज्ज चडावउं कस्स।।[17]
मणु मिलियउ परमेसरहो, परमेसरू जि मणस्स।
बिण्णि वि समरसि हुइ रहिय, पुज्ज चडावउ कस्स।।[18]

2. जैन धर्म में निर्वाण-प्राप्ति के लिए सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्र की पूर्णता का विधान किया गया है। इन तीनों में भक्ति स्वतःसमाहित है, भक्ति के अभाव में तीनों की पूर्णता नहीं कही गई है। कबीर भी प्रकारांतर से रूपक बनाकर कहते हैं कि दीपक, अग्नि और तेल—तीनों मिलकर ज्योति प्रज्वलित करते हैं—जिसमें कर्मरूपी पतंगे गिर-गिर कर समाप्त हो जाते हैं।[19] यहां दीपक ज्ञान का, तेल दर्शन (श्रद्धा) का और पावक चारित्र का प्रतीक है। उन तीनों के संयोग से कर्मरहित होकर मोक्ष को प्राप्त किया जा सकता है।

3. जैन दर्शन एवं धर्म में भक्ति राग-द्वेषरूप पाप विनाशक स्वीकार की गई है। मानतुंग आचार्य कहते हैं—

आस्तां तव स्त्वनमस्त-समस्त-दोषं,
त्वत्संकथापि जगतां दुरितानि हन्ति।
(भक्तामरस्तोत्र, 9)

हे प्रभो! समस्त दोषों से रहित तुम्हारा स्तवन तो दूर रहे, तुम्हारी कथाएं भी संसार के पापों का विनाश कर देती हैं। ऐसी भक्ति शोक, मोह और भय को नष्ट करने वाली होती है। योगसार[20] में भी कहा गया है कि पुण्य से जीव स्वर्ग प्राप्त करता है, पाप से नरक में जाता है। जो इन दोनों (पुण्य-पाप) को छोड़कर आत्मा को जानता है, वह मोक्ष प्राप्त करता है। कबीर ने राग-द्वेषरूप पुण्य-पाप को सुख-दुख शब्दों से व्यक्त करते हुए उक्त भाव को इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

दुखिया मूवा दुख को, सुखिया सुख कौं झूरि।
सदा अनदी (आनंदी) रांन (राम) के, जिनि सुख
दुख मेलहे दूरि।।[21]

4. जैन धर्म में दर्शन, ज्ञान और चारित्र की भक्ति के साथ ही सुदेव (भगवत्)-भक्ति, सुगुरु-भक्ति और श्रुत-भक्ति को भी स्वीकार किया गया है। कबीर ने भगवत्-भक्ति और मुख्यतः गुरु-भक्ति की है। सत्श्रुत-भक्ति संबंधी विचार अल्पमात्रा में प्राप्त होते हैं।

जैन धर्म और कबीर दोनों ने ही निरंजन, निराकार, परमशुद्ध आत्मारूप परमात्मा को ही 'सुदेव' कहा है[22] और उसी की भक्ति को ग्राह्य माना है। शेष राग-मोहादिग्रस्त प्रापंचिक देवी-देवताओं की भक्ति का दोनों ने निषेध किया है। फलतः दोनों ने आडंबरहीन, समर्पण-भावयुक्त निःस्वार्थ भक्ति को ही फलदायिनी माना है। तीर्थंकरों की धर्मसभा का वर्णन, उनके कल्याण के समय देवी-देवताओं के आगमन के वर्णन बाह्य आडंबर से परिपूर्ण हैं। इसीलिए इन्हें गौण मानते हुए ध्येयरूप स्वीकार नहीं किया गया। यही स्थिति कबीर-साहित्य में मिलती है, जहां अवतारी परमेश्वर के गुणगान तथा राजसी वैभव के वर्णन आदि का

अत्यधिक आडंबर से मुक्त होने के कारण कबीर द्वारा निषेध ही किया गया है।

लेकिन इसी सुदेव भक्ति को कबीर वह शक्ति मानते हैं जो अविनाशी राज्य प्रदान करती है। सांसारिक वासनाओं से मुक्त शाश्वत आनंद की प्रदात्री है। 'जग की डाव' से मुक्त कराती हुई शीतलता प्रदान करती है।[23]

5. भारतीय साहित्य में गुरु की महिमा को स्वीकारा गया है। जैन धर्म और कबीर ने लक्ष्य-प्राप्ति के लिए कुशल निर्देशक अथवा पथ-प्रशस्त करने वाले के रूप में 'गुरु' की भक्ति की है। गुरु को कभी परमात्मा की प्रतिमा, तो कभी परमात्मा का अवतार अथवा परमात्मा का सूक्ष्म रूप भी स्वीकार किया गया है। गुरु आत्मा और पर (आत्मेतर पदार्थ) की परंपरा की भिन्नता को समझाने वाला होता है। कहा है—

गुरु दिणयउ गुरु हिमकरणु गुरु दीवउ गुरु देउ।
अप्पापरहं परंपरहं जो दरिसावइ भेउ।।[24]

तब कबीर ने कहा—

बलिहारी गुरु आपणै, छौंहाडी के बार।
जिनि मानवि तैं देवता, करत न लागी बार।।[25]

आचार्य हरिभद्र ने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, गुरु-भक्ति, तप और ज्ञान को सत्पुष्प कहा है।[26] कबीर ने तो गुरु की महिमा को इतना अधिक गाया कि तीन लोक और 9 खंड में स्थित उस सिरजनहार की शक्ति को भी गुरु के सामने नगण्य साबित कर दिया और उन्होंने कहा कि भगवान जो करना चाहता है, वह भी गुरु की इच्छा से ही करता है।[27] इस प्रकार सद्गुरु को साधना-मार्ग का आवश्यक मार्गद्रष्टा दोनों में स्वीकार किया गया है।

6. गुरु-मुख से जो सुना गया हो, वह 'श्रुत' है। भगवान महावीर के उपदेशों का श्रवण कर आगम का संकलन होने से वे श्रुत कहलाए। अतः श्रुत, आगम, प्रवचन, शास्त्र आदि एकार्थक शब्द महावीर के संगृहीत उपदेशों के लिए प्रयुक्त हुए हैं। ऐसे आगम के विषय में अनेक जैनाचार्यों ने अपनी-अपनी परिभाषाएं दी हैं। पं. आशाधरजी श्रुत-भक्ति को भगवत्-भक्ति मानते हुए कहते हैं कि—

ये यजन्ते श्रुतंभकया ते पजन्तेऽन्जसा जिनम्।
न किन्चिदन्तरं प्राहुराप्ता हि श्रुतदेवयोः।।[28]

यह श्रुत भाव-शुद्धि का उपाय भी है।[29] आचार्य शुभचंद कहते हैं कि वही श्रुत यथार्थश्रुत है, जिसके आलंबन से आत्मा स्व-स्वरूप में लीन हो।[30] कबीर के साहित्य में श्रुत-भक्ति शब्द का प्रयोग नहीं हुआ। किंतु श्रुत-भक्ति की तल्लीनता में कबीर को परखा जा सकता है। यद्यपि कबीर अक्षरज्ञान के विरोधी थे। उन्होंने वेद-आगम आदि की भरपूर निंदा की। किंतु गहराई से देखें तो यह कहा जा सकता है कि वे अक्षरज्ञानमात्र के विरोधी नहीं थे बल्कि उस अक्षरज्ञान के विरोधी थे जिससे आत्म-शुद्धि के बजाय अहंभाव की वृद्धि होती हो।[31] उस रूप में जैन धर्म की श्रुत-भक्ति और कबीर की श्रुत-भक्ति एक लक्ष्य वाली हो जाती हैं। क्योंकि ज्ञानार्णव में इसी भाव को निर्देशित किया गया है। कबीर ग्रंथावली[32] के अनेक पदों में पठन-पाठन की चर्चा की गई है। उन्होंने स्वीकारा है कि वही ज्ञान ज्ञान है, जिससे आत्मा का साक्षात्कार होता है। उन्होंने श्रुत-भक्ति को अन्य रूप में स्वीकारते हुए कहा है कि—गुरुप्रदत्त श्रुतज्ञान एवं उस श्रुत के प्रति मेरे समर्पण का ही फल है कि मेरा अहं गल गया और मैं आत्मलीन हो गया।[33]

इस प्रकार जैन धर्म और कबीर-भक्ति में अनेक रूपों में निकटता, समानता और अर्थसाम्य दिखाई देता है। इतना ही नहीं, जैन धर्म-दर्शन विषयक सत् का स्वरूप, आत्मा, परमात्मा, आत्मा का कर्ता-भोक्ता भाव, दर्शन, ज्ञान, चारित्र, हृदय की सरलता, शुद्धता, वाणी-संयम, इंद्रिय-विजय, विनय, सतगुरु, राग-द्वेष निषेध ऐसे कई बिंदु खोजे जा सकते हैं, जिनके ऊपर कबीर ने प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में अपनी लेखनी चलाई। इसलिए कबीर दर्शन में जैन धर्म-दर्शन के प्रभाव को सहजता से स्वीकारा जा सकता है। ❖

संदर्भ-ग्रंथ

1. गोस्वामी तुलसीदास, पृ. 13, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, 1972
2. भगवती आराधना, गाथा 9
3. भवादिगणीय 'भज्-सेवायाम्'—संस्कृत धातुकोश, पृ. 83
4. रधादिगणीय 'भन्जो-आमर्दने'—वही, पृ. 84
5. चुरादिगणीय 'भज्-विश्राणने'—वही, पृ. 84
6. चुरादिगणीय 'भजिभासार्थ भाषार्थो वा'—वही, पृ. 84
7. (क) पातंजलयोगदर्शनं (व्यासभाष्य), 1/23 (ख) पातंजलदर्शन (भोजवृत्ति), प्रथम अ.
8. भगवद्गीता, 17/3
9. वही, 12/14
10. चिंतामणि, पृ. 22
11. धवला, 8/3, 41/89-90/4
12. अर्हदाचार्येषु बहुश्रुतेषु प्रवचने च/भाव विशुद्धियुक्तोऽनुरागो भक्तिः।। सर्वार्थसिद्धि, 6/24
13. भगवती आराधना, गाथा 46 की विजयोदया टीका

14. जैन प्रेमसागर—जैन भक्ति काव्य की पृष्ठभूमि, भूमिका पृ. 8
15. मुनि अशोक—सम्यग्दर्शन एक अनुशीलन, पृ. 209 ब्यावर, 1981
16. कबीर वचनावली, साखी 385-87
17. परमात्मप्रकाश (मुनि योगीन्द्र), 1/123
18. पाहुडदोहा (मुनि रामसिंह), 49 तथा मिताये गाथा सं. 176 से
19. दीपक पावक आंणिया, तेल भी आण्या संग।
तीन्यू मिलि करि जोइया, उड़ि-उड़ि पड़ै पतंग।।1।। कबीर ग्रंथावली (मिश्र)
20. पुण्णिं पावइ समा जिउ घावएं णरम-णिवासु।
वे छंडिवि अप्पामुवइ तो लब्भइ सिववासु।।32।।
21. कबीर ग्रंथावली (मिश्र), सा. 8
22. (क) पाहुडदोहा : 53, 54 (ख) परमात्मप्रकाश, 1/86-91, 122 (ग) संत कबीर, राग गौंड-5 (घ) कबीर ग्रंथावली (मिश्र) पद 334-339
23. कबीर ग्रंथावली (मिश्र), 358, 266, 262, 371, 380 पद
24. (क) पाहुडदोहा : 1 (ख) उत्तराध्ययन, प्रथम अध्ययन (ग) दशवैकालिक, 1/1/12 तथा अ. 9
25. कबीर ग्रंथावली, सा. 2
26. अष्टकप्रकरण, 3/6—आवश्यक निर्युक्ति की दीपिका
27. कबीर ग्रंथावली, दोहा 244
28. सागारधर्मामृत, 2/44
29. वही, 2/65
30. ज्ञानार्णव, 1/9 तच्छुतं तच्च विज्ञानं तद्ध्यानं तत्परं तपः।
अवमाला पदासाध स्वस्वरूपे लयं व्रजेत्।।
31. कबीर ग्रंथावली (मिश्र), पद 39
32. वही, पद 62, 64, 159, 157
33. कबीर ग्रंथावली (मिश्र), सा. 7 ❖❖

व्यक्ति को आचरण बना-बनाया नहीं मिलता। उसके द्वारा जो कुछ होता है, वह परिणाम है उन असंख्य सूत्रों की समवेत प्रक्रिया का, जो उसके भीतर और बाहर सब ओर व्याप्त है। उनमें किन्हीं एक-दो को पकड़कर निर्णय पर पहुंच जाना खतरनाक हो सकता है। इसलिए सच्ची समझदारी की सुरक्षा इसी में है कि हम दुष्ट को दोष से, पापी को पाप से विश्लिष्ट और विलग देख सकें। आखिर रोगी को रोग से भिन्न समझकर हम उसे लांछित के बजाए निरोग-स्वस्थ करने की चेष्टा में प्रवृत्त होते हैं कि नहीं?

अभियुक्त बनाकर दंड देने की प्रथा कानून के पास है। इसलिए शासन और शासक को प्रतिष्ठा नहीं मिल पाती है जो साहित्य और साहित्यकार के भाग्य में अक्सर आ जाया करती है। कारण यही कि साहित्य ऊपरी समझ से गहरी सहानुभूति को अधिक महत्त्व देता है और दंड एवं लांछन का आश्रय नहीं लेता है।

वह रास्ता राजनीति का है जो अपने लिए सुविधा की स्थिति बनाने और दूसरे को अभियुक्त के कटघरे में खड़े करने की नीति में गर्व तक मानता आया है। आप यदि साहित्य में रस लेना चाहते हों तो मैं कहूंगा कि किसी को पहले से बहिष्कृत कर चलने की आदत से छुटकारा पा लें और सबमें आत्मीयता पाने के अभ्यास का अधिक भरोसा रखें।

—जैनेन्द्र कुमार

कहानी

नई बहू नए सिरे से घर के काम-काज में जुट पड़ी। क्रमशः धीरे-धीरे उसने सुरमा का सब काम अपने हाथ में ले लिया। सिर्फ ऊपर नहीं जाती, पति के साथ मुलाकात नहीं करती। धीरे-धीरे सुरमा ने भी ऊपर का जाना-आना छोड़ दिया। बहू प्रफुल्ल-गंभीर मुख से काम करती और सुरमा पास बैठी रहती। एक यह देखती कि काम करने में कितना सुख है और दूसरी यह समझती कि काम की बहती धारा में कितना दुख बहाया जा सकता है। दोनों में से कोई भी ज्यादा बातचीत नहीं करती; फिर भी उनमें परस्पर सहानुभूति क्रमशः गाढ़ी ही होती गई।

❑ शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय ❑

प्रकाश और छाया

शुरू में ही अगर तुम जिद्द पकड़ लो कि ऐसा कभी हो नहीं सकता, तब तो मैं लाचार हूं और अगर यह कहो कि ऐसा हो भी सकता है; दुनिया में न जाने क्या-क्या होता है, सभी-कुछ थोड़े ही जानता हूं, तो इस कहानी को पढ़ डालो। मेरा विश्वास है कि इससे किसी भी तरह की कोई बड़ी हानि न होगी। कहानी लिखते वक्त कुछ ऐसी प्रतिज्ञा तो कर ही नहीं ली है कि जो-कुछ लिखूंगा, सब खालिस सत्य ही होगा। दो-एक लाइनें गलत हों तो हों, थोड़ा-बहुत मतभेद हो तो हो—इससे ऐसा क्या बनता-बिगड़ता है।

हां, नायक का नाम है यज्ञदत्त मुखर्जी, मगर सुरमा उसे कहती है 'प्रकाश'। आपने नायिका का नाम तो सुन ही लिया, लेकिन यज्ञदत्त उसे 'छाया' कहकर पुकारता है। कुछ दिनों तक उनमें भारी कलह रहा; कौन प्रकाश है और कौन छाया, किसी भी तरह इसकी मीमांसा नहीं हुई। अंत में सुरमा ने समझा दिया, तुम्हारी सूक्ष्म बुद्धि में इतनी-सी बात नहीं आती कि तुम न हो तो मैं कहीं की भी नहीं; परंतु, मेरे बिना रहे भी तुम चिरकाल चिरजीवी हो; इसी से तुम प्रकाश हो और मैं छाया।

यज्ञदत्त हंस दिया—'एकतरफ डिग्री पाना चाहती हो, तो ले लो, मगर फैसला किसी काम का नहीं हुआ।'

'खूब हुआ है, बढ़िया हुआ है, बहुत अच्छा हुआ है—प्रकाश, अब लड़ने की जरूरत नहीं। तुम प्रकाश हो, मैं श्रीमती छाया हूं।'

यह कहते हुए छाया ने नाना प्रकार से प्रकाश को तंग कर डाला।

कहानी का इतना तो हो गया। परंतु डर है कि कहीं अब तुम्हीं लोगों से द्वंद्व-युद्ध न हो जाए, तुम कहोगे, ये लोग स्त्री-पुरुष है; मैं कहूंगा—स्त्री-पुरुष जरूर हैं, पर पति-पत्नी नहीं हैं। तब जरूर ही तुम आंखें चढ़ा लोगे कि तो क्या अवैध प्रेम है? मैं कहूंगा—बहुत ही शुद्ध प्रेम है। तुम लोगों को किसी भी तरह विश्वास नहीं होगा; मुंह बनाकर पूछोगे—उमर क्या है? मैं कहूंगा, प्रकाश की उमर है तेईस साल और छाया की अठारह। इसके बाद भी अगर सुनना चाहो, तो शुरू करता हूं।

यज्ञदत्त की छोटी-सी छंटी हुई दाढ़ी थी, आंखों पर चश्मा, सिर पर लेवेंडर की सुगंध, चुनी हुई ढाके की धोती,

शर्ट पर एसेंस लगा हुआ, पैरों में मखमल की स्लीपर, जिन पर छाया ने अपने हाथों से फूल काढ़ दिए हैं, लाइब्रेरी में भर-घर पुस्तकें हैं और हैं घर पर अनेक दासियां। टेबल के किनारे बैठा हुआ यज्ञदत्त चिट्ठी लिख रहा है, सामने बड़ा-भारी आईना है। परदा हटाकर छाया ने बड़ी सावधानी के साथ प्रवेश किया। उसकी तबीयत थी कि चुपचाप पीछे से आकर आंखें मींच ले; पर पीठ के पास आकर हाथ बढ़ाते ही सामने शीशे पर नजर पड़ गई। देखा कि यज्ञदत्त उसके मुंह की तरफ देख-देखकर मुस्करा रहा है। सुरमा भी हंस दी, बोली—'क्यों देख लिया?'

यज्ञदत्त—'यह क्या मेरा कसूर है?

सुरमा—'तो किसका है?'

यज्ञदत्त—'आधा तुम्हारा है और आधा है शीशे का।'

सुरमा—'मैं उसे अभी ढंके देती हूं।'

यज्ञदत्त—'ढंक न दो, लेकिन बाकी के लिए क्या करोगी?'

सुरमा ने दो-तीन बार हिल-डुलकर कहा—'प्रकाश महाशय!'

यज्ञदत्त—'कहो छाया देवी!'

सुरमा—'तुम सूखते क्यों जा रहे हो?'

यज्ञदत्त—'मुझे तो ऐसा नहीं मालूम होता।'

सुरमा—'तुम खाते क्यों नहीं?'

यज्ञदत्त हंसने लगा। बोला—'सुरो, झगड़ा करने आई हो?'

सुरमा—'हूं!'

यज्ञदत्त—'मैं इसके लिए राजी नहीं।'

सुरमा—'तुम ब्याह क्यों नहीं करोगे?'

यज्ञदत्त—'इसका जवाब तो हर रोज एक बार दिया करता हूं।'

सुरमा—'नहीं, करना ही पड़ेगा।'

यज्ञदत्त—'सुरो, तुम अपना ब्याह क्यों नहीं करतीं?'

सुरमा ने यज्ञदत्त के हाथ से चिट्ठी छीनकर कहा—'छिः, विधवा का कहीं ब्याह होता है?'

यज्ञदत्त ने कुछ देर चुप रहकर कहा—'कौन जाने! कोई कहता है, होता है और कोई कहता है, नहीं होता।'

सुरमा—'तो फिर मुझे इस निमित्त का भागी बनाने की कोशिश क्यों?'

यज्ञदत्त ने लंबी सांस लेकर कहा—'तो क्या हमेशा मेरी ही सेवा करते-करते जीवन बिता दोगी?'

'हूं,' कहकर वह टप-टप आंसू गिराती हुई रोने लगी।

यज्ञदत्त ने उसके आंसू पोंछते हुए कहा—'सुरो, तुम्हारे मन की साध क्या है, क्या मुझे साफ-साफ नहीं बताओगी?'

सुरमा—'मुझे वृंदावन भेज दो।'

यज्ञदत्त—'मुझे छोड़कर रह सकोगी?'

सुरमा के मुंह से बात नहीं निकली। दाएं और बाएं दो-एक बार सिर हिलाने के साथ ही उसकी आंखों का पानी झरने-सा बहने लगा।

2

सुरमा—'यज्ञ-भइया, वह कहानी फिर से कहो न?'

यज्ञदत्त—'कौन-सी सुरमा?'

सुरमा—'वही, मुझे जब वृंदावन में खरीदा था। कितने रुपए में खरीदा था?'

यज्ञदत्त—'पचास रुपए में। मेरी उमर तब अठारह साल की थी। बी.ए. का इम्तहान देकर पछांह की तरफ घूमने गया था। मां तब जिंदा थीं, वे भी साथ थीं। एक दिन दोपहर को मालती-कुंज के पास से वैष्णवियों का एक दल गीत गीता हुआ जा रहा था, उसी में पहले-पहल मैंने तुम्हें देखा। यौवन की पहली सीढ़ी पर पैर रखते ही दुनिया ऐसी सुंदर-सुहावनी दीखने लगती है कि सिर्फ अपनी आंखों से उसका माधुर्य पूरा-पूरा नहीं लूटा जा सकता। साध होती है, मनकी-सी और दो आंखें इसी तरह एक साथ ऐसी शोभा का संभोग कर सकें, अगर उसे समझा दे सकूं—यह क्या सुरमा, रोती हो?'

सुरमा—'नहीं, तुम कहो।'

यज्ञदत्त—'तुम तब तेरह वर्ष की नवीन वैष्णवी थीं। हाथ में तंबूरा था और गीत गा रही थीं।'

सुरमा—'जाओ, मैं क्या गाना गा सकती हूं?'

यज्ञदत्त—'उस वक्त तो गा सकती थीं—उसके बाद बहुत परिश्रम से तुम्हें पाया, तुम ब्राह्मण की लड़की थीं, बाल-विधवा। मां तुम्हारी तीर्थ में आकर फिर घर न लौट सकीं, स्वर्ग सिधार गईं। मैंने तुम्हें लाकर अपनी मां के हाथ सौंप दिया, उन्होंने छाती से लगा लिया। उसके बाद, मरते समय वे फिर मुझे ही लौटा गईं।'

सुरमा—'यज्ञ-भइया, तुम्हारा घर कहां है?'

यज्ञदत्त—'सुना है, कृष्णनगर के पास है कहीं।'

सुरमा—'मेरे और कोई नहीं है?'

यज्ञदत्त—'मैं हूं न, यही तो तुम्हारा सब-कुछ है, सुरमा।'

सुरमा के पलक फिर भीग गए, बोली—'तुम मुझे फिर बेच सकते हो?'

यज्ञदत्त—'नहीं, सो नहीं कर सकता। अपने को बिना बेचे यह काम हरगिज नहीं हो सकता।'

सुरमा कुछ बोली नहीं। उसी तरह डबडबाई हुई आंखों से उसकी तरफ देखती रही। बहुत देर बाद धीरे-से बोली—'तुम बड़े भइया हो, मैं छोटी बहन हूं। हम दोनों के बीच एक अच्छी-सी बहू ले आओ न भइया।'

यज्ञदत्त—'क्यों भला?'

सुरमा—'दिन-भर उसका साज-सिंगार करके उसे तुम्हारे पास लाकर बैठा दिया करूंगी।'

यज्ञदत्त—'सो क्या तुम पूरे मन से कर सकोगी?'

सुरमा ने मुंह उठाकर, उसकी आंखों में आंखें बिछाकर कहा—'मैं क्या ऐसी अधम हूं जो जलूंगी?'

यज्ञदत्त—'जलोगी नहीं, पर अपनी जगह तो लुटा दोगी?'

सुरमा—'लुटा क्यों दूंगी? मैं राजा की राजा बनी ही रहूंगी, सिर्फ एक मंत्री बहाल कर दूंगी, दोनों जनी मिलकर तुम्हारा राज्य चलाएंगी, बड़ा आनंद आएगा।'

यज्ञदत्त—'देखो छाया, विवाह करने की मेरी इच्छा नहीं, पर हां, तुम्हें अगर एक साथी की बहुत जरूरत हो तो ब्याह कर सकता हूं।'

सुरमा—'हां, जरूर करो, बड़ा आनंद आएगा; दोनों जनीं खूब मौज से दिन बिताएंगी।'

इतना कहकर सुरमा मन-ही-मन बोली—'तीनों कुल में मेरे तो कोई है नहीं; मान-अभिमान हो, सो भी नहीं, लेकिन, तुम क्यों मेरे कारण दुनिया-भर का कलंक बटोरोगे? देव हो तुम मेरे! तुम ब्याह करो, तुम्हारा मुंह देखकर मैं सब सह लूंगी।'

3

कोलकाता में ऐसे बहुत-से लोग हैं जो अपने पड़ोसी की खबर नहीं रखते। बहुत-से रखते हैं तो खूब रखते हैं। जो खबर रखते हैं, वे कहते हैं—यज्ञदत्त बी.ए. पास भले ही कर ले, पर है आवारा लड़का। इशारे में वे सुरमा की बात का उल्लेख करते हैं। कभी-कभी यह बात सुरमा और यज्ञदत्त के भी कानों में पड़ जाती है। सुनकर दोनों हंसने लगते हैं।

परंतु तुम अच्छे हो चाहे बुरे, अगर बड़े आदमी हो तो तुम्हारे घर लोग आएंगे ही, खासकर औरतें। कोई कहती—'सुरमा, तुम अपने भइया का ब्याह क्यों नहीं करवा देतीं?'

सुरमा जवाब देती—'करा दो न जीजी, अच्छी-सी लड़की खोज दो।'

जो सुरमा की सहेली होती, वह हंस देती—'यही तो, अच्छी लड़की मिलना मुश्किल है, तुम्हारे रूप से जिसकी आंखें भरी हुई हैं; उसके—'

'हट जलमुंही', कहते-कहते सुरमा का सारा चेहरा स्नेह और गर्व से लाल हो उठता।

उस दिन दोपहर को टिपिर-टिपिर मेह बरस रहा था, सुरमा ने कमरे में घुसते ही कहा—'एक लड़की पसंद कर आई हूं।'

यज्ञदत्त—'उफ्, माथे से एक चिंता हट गई। कहां, सुनूं तो सही?'

सुरमा—'उस मुहल्ले के मित्तिरों के यहां।'

यज्ञदत्त—'ब्राह्मण होकर कायस्थ के घर?'

सुरमा—'कायस्थों के घर क्या ब्राह्मण नहीं रहते? उसकी मां वहां रसोई बनाने का काम किया करती थी। सुना है, लड़की बहुत अच्छी है। देख आओ, अगर मन में बैठ जाए तो घर ले आना।'

यज्ञदत्त—'मैं क्या ऐसा अभागा हूं कि दुनिया-भर की भिखारिनों के सिवा मेरी गुजर ही न होगी?'

सुरमा—'भिखारिन बटोर लाना क्या तुम्हारे लिए नया काम है!'

यज्ञदत्त—'फिर!'

सुरमा—'नहीं, तुम जाओ, देख आओ। मन में जम जाए तो 'ना' मत करना।'

यज्ञदत्त—'मन में तो किसी हालत में जम ही नहीं सकती।'

सुरमा—'जम जाएगी जी, खूब जमेगी, एक बार देख तो आओ।'

छाया देवी ने फिर प्रकाश को सजा दिया। खूब खुशबू वगैरह लगाकर, मांज-घिसकर, बाल काढ़कर—इस ढंग से आईने के सामने खड़ा कर दिया कि यज्ञदत्त को शरम मालूम होने लगी। बोला—'छिः, यह तो बहुत ज्यादती हो गई।'

सुरमा ने कहा—'हो जाने दो, तुम देख आओ।'

गाड़ी पर सवार होकर यज्ञदत्त लड़की देखने चल दिया। रास्ते में एक मित्र को भी अपने साथ ले लिया—'चलो, मित्तिरों के यहां जल-पान कर आएं।'

मित्र ने पूछा—'क्या मतलब?'

यज्ञदत्त—'उनके घर एक भिखारिन की लड़की है। उसके साथ ब्याह करना होगा।'

मित्र—'कहते क्या हो, यह सीख किसने दी?'

यज्ञदत्त—'तुम लोग जिसकी ईर्ष्या से मरे जा रहे हो, उसी छायादेवी ने।'

यज्ञदत्त अपने मित्र के साथ लड़की देखने मित्तिरों के घर पहुंचे। लड़की कार्पेट के आसन पर बैठी थी, कई बार की धुली देशी साड़ी पहने, उसके सूत कहीं-कहीं ऐसे बिखर गए थे जैसे जाली। हाथों में चूड़ियां थीं और तांबे के रंग के सोने के कड़े—कहीं-कहीं उनके भीतर का चपड़ा दीख रहा था। माथे में इतना तेल था कि ललाट तक चमक रहा था, और सिर के बीचों-बीच ठीक ब्रह्मतालु के ऊपर जूड़ा काठ-सा कड़ा बंधा हुआ ऊंचा खड़ा था। दोनों मित्र उसे देखते ही मुस्करा दिए। हंसी को छिपाते हुए लड़की की तरफ देखकर यज्ञदत्त ने कहा—'क्या नाम है तुम्हारा?'

लड़की ने अपनी बड़ी-बड़ी काली आंखों को शांतभाव से उसके मुंह पर रखते हुए कहा—'प्रतुल।'

यज्ञदत्त ने अपने मित्र को चुटकी भरकर मुस्कराते हुए कहा—'क्यों भाई, गदाधर तो नहीं?'

मित्र ने हलका-सा एक धक्का देकर कहा—'ज्यादा बहस नहीं, झटपट पसंद कर डालो।'

'हां, अभी लो—'

'अच्छा, अच्छा, क्या पढ़ती हो।'

'कुछ नहीं।'

'और भी अच्छा है।'

'काम-काज करना आता है?'

प्रतुल ने सिर हिलाया। पास ही एक नौकरानी खड़ी थी, व्याख्या कर दी—'बड़ी कर्मी लड़की है बाबूजी, रसोई बनाने-परोसने, घर के काम-धंधे में अपनी मां के जैसी है। और मुंह से तो इसके बात ही नहीं निकलती—बड़ी शांत है।'

'सो तो देख ही रहा हूं। तुम्हारे बाप हैं?'

'नहीं।'

'मां भी मर गई हैं?'

'हां।'

यज्ञदत्त ने देखा कि उस गूंगी-बेवकूफ लड़की की आंखों में आंसू भर आए हैं, पूछा—'तुम्हारे क्या कोई भी नहीं है?'

'नहीं।'

'हमारे घर चलोगी?'

उसने गरदन हिलाई—हां। इतने में उसकी जंगले की तरफ निगाह पड़ी तो देखा कि खिड़की से दो काली आंखें जैसे आग बरसा रही हों! तब उसने डरकर कह दिया—'नहीं।'

बाहर आकर मित्तिर साहब से भेंट हुई।

'कैसी दिखी लड़की?'

'अच्छी है।'

'तो फिर ब्याह का मुहूर्त सुधवाया जाए?'

'हां-हां।'

4

बारह-तेरह वर्ष के लड़के के हाथ से जब कोई निर्दय रसहीन अभिभावक उसका अर्द्धपठित कौतुकपूर्ण उपन्यास छीनकर छिपा देता है, तब उसकी जैसी हालत होती है—भीतर का प्राण व्याकुल भाव से उस शुष्क-मुख शंकित बालक को कभी इस कोठरी में और कभी उस कोठरी में दौड़ाता रहता है, डरती हुई उसकी तीव्र आंखें जैसे उस प्रिय पदार्थ को खोजने में व्यस्त और परेशान हो जाती हैं और उसकी सर्वदा इच्छा होती रहती है कि किसी पर खूब गुस्सा होए—उसी तरह सुरमा यज्ञदत्त के लिए छटपटाने लगी। वह क्या जाने क्या ढूंढकर निकालेगी। कुरसी, बेंच, शोफा, पलंग, कमरा, बरामदा आदि सभी चीजों पर वह नाराज हो उठी। सड़क की तरफ का एक भी जंगला उसे पसंद न आया; कभी इस पर और कभी उस पर बैठने लगी। यज्ञदत्त ने कमरे में प्रवेश किया।

'क्या हुआ प्रकाश महाशय?'

प्रकाश का चेहरा गंभीर हो गया।

सुरमा—'पसंद आई?'

यज्ञदत्त—'आई।'

सुरमा—'कब का ब्याह है?'

'यज्ञदत्त—'शायद, इसी महीने में—'

निरानंद उत्साह के साथ सुरमा पास आई, पर उसने किसी तरह का ऊधम नहीं किया, कहा—'तुम्हें मेरे सिर की कसम, सच बताओ।'

'कैसी आफत है, सच ही तो कह रहा हूं।'.

'मेरा मरा मुंह देखो, बताओ, पसंद आ गई?'

'हां—'

सहसा सुरमा को मानो कोई शब्द ढूंढे नहीं मिला। बच्चे जैसे फटकार खाकर रोने से पहले इधर-उधर गरदन हिलाकर कोई अर्थहीन बात कह डालते हैं, सुरमा ने भी उसी तरह बच्चों जैसी गरदन हिलाकर गाढ़े स्वर में कहा—'मैंने तो पहले ही कह दिया था!'

यज्ञदत्त अपनी ही चिंता में व्यस्त था; इसलिए समझ नहीं सका कि उसके कुछ मानी ही नहीं होते; क्योंकि पहले तो 'पसंद ही होगी' ऐसी बात सुरमा ने कभी कही नहीं; दूसरे उसने खुद भी लड़की नहीं देखी; बल्कि, ऐसी तो उसने बिल्कुल आशा ही नहीं की थी कि इतनी जल्दी पसंद आ जाएगी और सगाई पक्की हो जाएगी। उसी से वह दिन-भर अपने कमरे में बैठकर इस बात की चिंता करने लगी। दो दिन बाद यज्ञदत्त के बहुत-कुछ समझ में आ गया। बोला—'सुरो, यह ब्याह मत कराओ, बहन।'

सुरमा—'वाह, ऐसा भी कहीं होता है? सगाई जो पक्की हो गई है?'

यज्ञदत्त—'पक्की कुछ नहीं हुई।'

'सुरमा—'नहीं, सो नहीं हो सकता, दुखिया लड़की को सुखी करना है, यह भी तो जरा सोचो; खासकर, वचन देकर मुकरोगे?'

यज्ञदत्त को प्रतुलकुमारी का मुखड़ा याद आ गया, उस दिन उसकी काली आंखों में मानो उसने सहिष्णुता और शांत भाव की निगूढ़ छाया देखी थी। इससे वह चुप हो रहा। फिर भी, बहुत-सी बातें सोचने लगा। सुरमा के बारे में ही ज्यादा सोचा। वर्षा के दिन सहसा बरसाती फतिंगे जैसे घर-घर में भर जाते हैं, उसी तरह उसका सारा मन भी बेचैनी से भर गया; और साथ ही उनका छिपा हुआ वास–गह्वर जैसे ढूंढे नहीं मिलता, उसी तरह सुरमा के मुंह की बातें हृदय की किस गुप्त आकांक्षा के भीतर से झुंड बांधकर निकलने लगीं, इसका भी कुछ पता नहीं लगा। उसकी आंखों पर ऐसा एक धुंधला-सा जाल पड़ गया कि उसे किसी भी तरह सुरमा का चेहरा न दिखाई दिया।

5

विवाह करके यज्ञदत्त बहू को घर ले आया। विकार-ग्रस्त रोगी के घर में कोई आदमी न रहने से जैसे वह अपनी सारी शक्तियों को एकत्र करके पानी के घड़े की तरफ दौड़कर उससे चिपट जाता है, सुरमा ने ठीक उसी तरह नई बहू को छाती से चिपटा लिया। अपना जितना भी जेवर था, सब उसे पहना दिया; और, जितने कपड़े थे, सब उसके बॉक्स में भर दिए। सूखे मुंह से दिन-भर बहू को सजाने की धूम देखकर यज्ञदत्त का मुंह इतना-सा निकल आया। गंभीर स्वप्न तो सहा जा सकता है, क्योंकि असह्य होते ही नींद टूट जाती है; परंतु जागते हुए स्वप्न देखने में तो दम अटकने लगता है। किसी तरह वह खत्म नहीं होता और नींद भी नहीं टूटती। कभी मालूम होता है यह स्वप्न है, कभी मालूम होता है यह सत्य है। प्रकाश और छाया दोनों के ही ऐसा भाव आने लगा। एक दिन अपने कमरे में बुलाकर यज्ञदत्त ने कहा—'छायादेवी!'

'क्या है यज्ञ-भइया?'

'प्रकाश महाशय' नहीं कहा?'

सिर झुकाकर सुरमा ने कहा—'प्रकाश महाशय।'

यज्ञदत्त ने दोनों हाथ बढ़ाकर कहा—'बहुत दिनों से पास नहीं आई, आओ।'

सुरमा ने एक बार उसके मुंह की तरफ देखा और दूसरे क्षण कह उठी—'वाह, मैं भी खूब हूं! बहू को अकेली छोड़कर आई हूं!'

कहती हुई वह जल्दी से भाग गई।

गुस्से में अगर किसी अपरिचित भले आदमी के गाल पर थप्पड़ मार दिया जाए और वह अगर शांत-भाव से क्षमा करके चला जाए तो उस समय जैसा मन खराब हो जाता है, वैसे ही क्षमाप्राप्त अपराधी की तरह उसका भी मन क्रमशः उत्साहहीन होने लगा। बार-बार यही मालूम होने लगा—उसने अपराध किया है और सुरमा उसे जी-जान से क्षमा कर रही है।

सुरमा सर्व आभरणों से भूषित नववधू को जबरदस्ती उसके पास बिठा देती। शाम होते ही चटसे बाहर से ताला बंद कर देती। यज्ञदत्त गाल पर हाथ रखकर सोचता रहता।

बहू भी कुछ-कुछ समझ जाती है। वह सयानी लड़की नहीं है, फिर भी है तो नारी। साधारण स्त्री-बुद्धि से भगवान किसी को भी वंचित नहीं रखते। वह भी सारी रात जागती रहती। ब्याह हुए आज आठ दिन भी नहीं हुए, इतने में एक दिन सवेरे यज्ञदत्त ने सुरमा को बुलाकर कहा—'सुरो, बर्द्धमान में बुआजी को बहू दिखा लाऊं।'

दामोदर नदी के उस पार बुआ का गांव है। बुआ के घर पहुंचते ही यज्ञदत्त ने कहा—'बुआजी, बहू लाया हूं देखो।'

बुआ—'अरे, ब्याह कर लिया! ओ हो, जीती रहो। अच्छी चंदा-सी बहू है, अब आदमी की तरह घर-गृहस्थी चलाओ, बेटा!'

यज्ञदत्त—'इसीलिए तो सुरमा ने जबरदस्ती यह ब्याह कराया है।'

बुआ—'अच्छा, सुरो ने यह ब्याह करवाया है?'

यज्ञदत्त—'उसी ने तो कराया है, पर तकदीर ही खराब निकली, इस बहू के साथ घर नहीं चल सकता।'

बुआ—'सो क्यों?'

यज्ञदत्त—'जानती हो बुआ, मेरा नर गण है और बहू का है राक्षस गण। एक साथ रहने से ज्योतिषी ने कहा, बचा न बचा।'

बुआ—'अरे बेटा यह कैसी बात?'

यज्ञदत्त—'तब जल्दी में ये सब बातें देखी नहीं गईं, अब यह तुम्हारे ही पास रहा करेगी, माहवारी पचास रुपए तुम्हें भेज दिया करूंगा, इतने से काम नहीं चल जाएगा बुआ?'

बुआ—'हां, चल जाएगा। गंवई-गांव में, विशेष कोई तकलीफ नहीं होगी। आहा, चांद-सी बहू है, बड़ी हो गई है—क्यों रे यज्ञ, कोई शांति-विधान कराने से काम नहीं चलेगा?'

यज्ञदत्त—'चल सकता है। मैं भट्टाचार्यजी से पूछकर, जैसा होगा, तुम्हें खबर दूंगा।'

बुआ—'अच्छा, सूचित करना बेटा।'

शाम के वक्त बहू को पास बुलाकर यज्ञदत्त ने कहा—'तो तुम यहीं रहो।'

उसने गरदन हिलाकर कहा—'अच्छा।'

'तुम्हें जब जिस चीज की जरूरत हो, मुझे खबर देना।'

'अच्छा।'

'तुम्हें चिट्ठी लिखना आता है?'

'नहीं।'

'तो फिर, कैसे खबर दोगी?'

नववधू घर की पालतू हरिणी की तरह अपनी आंखों को पति के चेहरे पर गाड़कर चुपचाप खड़ी रही। यज्ञदत्त मुंह फेरकर चला गया।

बुआजी के घर बहू खूब तड़के ही उठकर काम-काज में लग जाती है। बैठा रहना उसने सीखा ही नहीं। बिल्कुल नई होने पर भी उसने परिचित की भांति घर का काम-धंधा करना शुरू कर दिया। दो-चार दिन में ही बुआजी समझ गई कि ऐसी लड़की सभी की कोख से नहीं होती।

बहू के पास बहुत गहने हैं; मुहल्ला-भर की औरतें देखने आती हैं। किसी ने पूछा—'किसने दिया है बहू? तुम्हारे बाप ने?'

'मां-बाप मेरे नहीं हैं, ननदजी ने दिया है।'

दो-एक बराबर की उमरवालियों से मेल हो जाने पर वे खोद-खोदकर भेद जानने की कोशिश करने लगीं। पूछने लगीं—'तुम्हारी ननद शायद खूब बड़े घर की हैं?'

'हां।'

'सब गहने उन्हीं के हैं?'

'वे नहीं पहनतीं? विधवा हैं वे, पहनती नहीं।'

'कितनी उमर है, बहू?'

'हम लोगों से कुछ बड़ी होंगी? उन्होंने जबरदस्ती अपने भइया से मेरा ब्याह कराया है।'

'तुम्हारा वर उनका कहना खूब मानता है, क्यों?'

'हां, वे सती-लक्ष्मी हैं, सभी उनसे प्रेम करते हैं।'

6

ऊपर के जंगले से सुरमा ने देखा, यज्ञदत्त घर लौट आए, पर साथ में बहू नहीं है। घर में घुसते ही उसने पूछा—'भइया, बहू को कहां छोड़ आए?'

'बुआजी के घर।'

'साथ में ले क्यों नहीं आए?'

'रहने दो अभी, कुछ दिन बाद में देखा जाएगा।'

बात सुरमा की छाती में चुभ गई। दोनों चुप बने रहे। प्रिय जनों में बहस करते-करते अचानक झगड़ा हो जाने से जैसे दोनों कुछ देर तक क्षुण्ण मन से चुपचाप बैठे रहते

हैं—ये दोनों जने भी कुछ दिन उसी तरह चुपचाप दिन बिताते रहे। सुरमा कहती—'नहा-धोकर खा-पी लो, बहुत अबेर हो गई है।' यज्ञदत्त कहता—'हां, जाता हूं।' ऐसे ही कुछ दिन बीत गए। एक साथ रहकर घर-गृहस्थी चलाने का काम हमेशा इस तरह नहीं हो सकता, इसी से फिर मेल होने लगा। यज्ञदत्त फिर लाड़-प्यार के साथ बुलाने लगे—'ओ छायादेवी!' मगर, छाया अब 'प्रकाश' नहीं कहती। कभी 'यज्ञ-भइया' कहती है, कभी सिर्फ 'भइया' कहकर ही पुकारती है।

सुरमा ने एक दिन कहा—'भइया, करीब तीन महीने होने को आए, अब बहू को ले आओ।' यज्ञदत्त बात टाल देता—'हां, सो आ जाएगी।'—सुरमा उसके मन का भाव समझकर चुप रह जाती।

बुआ की चिट्ठी कभी-कभी आ जाया करती है। बुआ लिखती है, बहू को मलेरिया-बुखार आने लगा है; इलाज होना जरूरी है। मतलब समझकर यज्ञदत्त और कुछ रुपए ज्यादा भेज देता। फिर महीने-भर कोई बात ही नहीं छिड़ती।

इतने में ही एक दिन अकस्मात् चिट्ठी आई—बुआ मर गई! यज्ञदत्त बर्द्धमान चला गया। जाते समय सुरमा ने सिर की कसम देकर कह दिया, बहू को लेते आना।

बर्द्धमान में बुआ का क्रियाकर्म हो जाने के बाद, एक दिन दोपहर को यज्ञदत्त बरामदे में खड़ा-खड़ा घर आने की बात सोच रहा था। आंगन में धान की मड़ाई के पास नई बहू खड़ी थी, उस पर उसकी निगाह पड़ गई। चार आंखें होते ही उसने हाथ से इशारा करके उसे पास बुलाया।

बहू पास आ गई।

'क्यों?'

'आपसे कुछ कहूंगी।'

'अच्छी बात है, कहो।'

नई बहू ने घूंट-सा भरते हुए कहा—'एक दिन आपने कहा था, अगर मुझे कुछ जरूरत हो—'

यज्ञदत्त—'हां-हां, क्या जरूरत है बताओ—'

बहू—'घर में सभी कोई कहा-सुनी करती रहती हैं, मैं बड़ी कुलच्छिनी हूं, इससे यहां अब रहने को जी नहीं करता।'

यज्ञदत्त—'कहां रहना चाहती हो?'

बहू—'कोलकाता में अगर किसी भले-घर में जगह मिल जाती, मैं तो सब काम करना जानती हूं।'

यज्ञदत्त—'तुम अपने घर जाओगी?'

बहू—'मेरा अपना घर? वह कहां है? वे लोग क्या अब रहने देंगे?'

यज्ञदत्त ने अपने हाथ से स्त्री का मुंह ऊंचा करके कहा—'मेरे घर चलोगी?'

बहू—'चलूंगी।'

यज्ञदत्त—'सुरमा तुम्हारे लिए बड़ी घबरा रही है।'

सुरमा के जिक्र से उसका चेहरा मारे खुशी के फूल उठा—'जीजी मेरी याद करती हैं?'

यज्ञदत्त—'खूब करती हैं।'

बहू—'तो ले चलिए।'

दुनिया में एक तरह के ऐसे आदमी हैं जिन्हें दूसरों के बारे में अपनी राय जाहिर करने की बुद्धि ही किसी तरह ढूंढ़े नहीं मिलती; मगर उनमें ऐसी एक सहज बुद्धि होती है कि वे उस पर निर्भर होकर अपने बारे में और किसी से सलाह लेने की कतई जरूरत नहीं समझते। नई बहू इसी कोटि की है। वह अपनी बात आप ही सोचती है, दूसरे से नहीं पूछती। उसने सोचकर कहा—'आप लोगों का अमंगल होने का बड़ा डर है मुझे, पर रहूं भी तो कहां रहूं? नहीं तो मैं नीचे ही रहा करूंगी, सब काम-काज करने में नीचे आराम भी रहेगा।'

यज्ञदत्त—'ऊपर क्या तुम्हारे रहने का कमरा नहीं है?'

'है, पर नीचे के कमरे में ही अच्छी रहूंगी।'

यज्ञदत्त ने फिर कोई बात नहीं की। वह सोचने लगा, इसकी बातें तो बिल्कुल बेवकूफों की-सी नहीं हैं और कई बार मन में आई कि कह दे—वह कुलच्छिनी नहीं है, राक्षस गण वगैरह सब झूठ है। पर झूठ बोलने का कारण क्या है, उसे कैसे बताया जाए? खासकर वह इस बात का भी भरोसा नहीं कर सका कि घर जाकर वह अपने पिछले और आगे के व्यवहार में अच्छी तरह सामंजस्य भी रख सकेगी।

7

सुरमा ने देखा कि बहू आ गई। उग्र नशे का पहला झोंका संभालकर अब वह स्थिर हो गई है। इसी से बहू को देखने के लिए उसने ज्यादती नहीं की। शांत धीर भाव से प्रिय-संभाषण किया; मौखिक ही नहीं, अंतरंग की मंगलेच्छा उसके सूखे चेहरे पर फिर से ज्योति ले आई।

बोली—'बहू, तुम्हारी तबीयत वहां ठीक नहीं रही?'

बहू ने सिर हिलाकर कहा—'बीच-बीच में बुखार आ जाता था।'

सुरमा ने उसके माथे का पसीना पोंछकर कहा—'यहां इलाज होते ही सब अच्छा हो जाएगा।'

दोपहर को सुरमा को खबर लगी कि बहू के लिए नीचे का कमरा साफ हो रहा है; मारे अपमान के उसकी आंखों में आंसू भर आए। किसी तरह उन्हें रोकते हुए वह यज्ञदत्त के पास जाकर बोली—'भइया, बहू क्या नीचे सोएगी? तुम कुछ नहीं कहोगे?'

'मैं क्या कहूं? जिसके मन में जो आवे, करे।'

सुरमा लज्जा और धिक्कार से अपने को काबू में न रख सकी, उसके सामने ही रो दी और भाग खड़ी हुई। ऊपर की यह वारदात नीचे तक न पहुंची।

नई बहू नए सिरे से घर के काम-काज में जुट पड़ी। क्रमशः धीरे-धीरे उसने सुरमा का सब काम अपने हाथ में ले लिया। सिर्फ ऊपर नहीं जाती, पति के साथ मुलाकात नहीं करती। धीरे-धीरे सुरमा ने भी ऊपर का जाना-आना छोड़ दिया। बहू प्रफुल्ल-गंभीर मुख से काम करती और सुरमा पास बैठी रहती। एक यह देखती कि काम करने में कितना सुख है और दूसरी यह समझती कि काम की बहती धारा में कितना दुख बहाया जा सकता है। दोनों में से कोई भी ज्यादा बातचीत नहीं करती; फिर भी उनमें परस्पर सहानुभूति क्रमशः गाढ़ी ही होती गई।

बीच-बीच में नई बहू को अक्सर बुखार आता और दो-चार दिन उपवास करने से अपने-आप चला जाता। दवा खाने की ओर न उसकी प्रवृत्ति है और न खाती है। उस समय का काम-धंधा नौकर-नौकरानियां ही करती हैं, सुरमा से होता नहीं, इच्छा होने पर भी यह उसके सामर्थ्य से बाहर की बात है।

सोने की प्रतिमा सुरमा देवी का अब न तो वह रंग है और न ही वह कांति। इतना लावण्य इन दो ही महीनों में न जाने कहां उड़ गया! बहू कभी-कभी कहती है—'जीजी, तुम दिन-पर-दिन ऐसी क्यों होती जा रही हो?'

'मैं? अच्छा भाभी, स्वास्थ्य सुधारने के लिए अगर कहीं बाहर चली जाऊं, तो तुम्हें तकलीफ तो न होगी?'

'जरूर होगी।'

'तो नहीं जाऊंगी।'

'नहीं जीजी, मत जाना, तुम दवा-दारू कराके यहीं अच्छी हो जाओ।'

सुरमा ने स्नेह से उसका ललाट चूम लिया।

एक दिन सुरमा यज्ञदत्त के लिए थाली लगा रही थी। यज्ञदत्त उसका मलिन, सूखा चेहरा सतृष्ण दृष्टि देख रहा था। सुरमा के आंख उठाकर देखते ही उसने दीर्घ निःश्वास लेते हुए कहा—'मन में आता है, मर जाऊं तो अच्छा।'

'क्यों?' कहते ही सुरमा की आंखों में आंसू भर आए। 'डरता हूं, न जाने और कब तक प्राणों का भार ढोना पड़ेगा!' बंदूक की गोली खाकर वन का पशु जैसे जमीन छोड़कर आसमान की ओर भागने के लिए जी-जान से उछल पड़ता है; किंतु आसमान उसका कोई नहीं, इसलिए वह आश्रयशून्य मरणाहत जीव अंत में चिर-आश्रय पृथ्वी को ही हृदय से लगाकर प्राण त्याग देता है, ठीक उसी तरह छटपटाती हुई सुरमा ने पहले तो आकाश की ओर देखा, उसके बाद जमीन पर लौटकर वह रोने लगी—'यज्ञ भइया, क्षमा करो, मैं तुम्हारी शत्रु हूं, मुझे और कहीं भेज दो, तुम सुखी होओ।'

कहीं नौकरानी न आ जाए, इस डर से यज्ञदत्त ने हाथ पकड़कर उसे उठा लिया। स्नेह से उसके आंसू पोंछते हुए कहा—'छि, इस तरह लड़कपन नहीं किया करते।'

आंसू पोंछती हुई सुरमा झटपट कमरे में चली गई और उसने भीतर से दरवाजा बंद कर लिया।

8

उसके बाद एक दिन सुरमा ने बहू को अपने पास खींचकर धीरे से पूछा—'बहू, भइया ने क्या तुमसे कभी कुछ कहा है?'

बहू ने सहज भाव से जवाब दिया—'कहेंगे क्या?'

'तो फिर, तुम उनके पास जाती क्यों नहीं? तुम्हारी क्या तबीयत नहीं होती जाने की?'

बहू को पहले तो शरम मालूम होने लगी। फिर सिर झुकाकर बोली—'होती तो है जीजी, लेकिन जाना तो नहीं हो सकता न।'

'क्यों बहू?'

'तुम्हें याद नहीं?'

'नहीं तो!'

'अरे, शायद तुम भूल गई हो जीजी, मेरा राक्षस गण है और उनका नर गण है।'

'किसने कहा?'

'उन्हीं ने बुआजी से कहा था, इसी सें तो—'

सुरमा के एकाएक रोंगटे खड़े हो गए, बोली—'यह तो झूठी बात है बहू।'

'झूठी बात?'

आंखें फाड़कर वह सुरमा के मुंह की ओर देखती रह गई। सुरमा बार-बार सिहरने लगी।

बोली—'झूठी बात है बहू, बिल्कुल झूठ।'

'मुझे विश्वास नहीं होता, वे झूठ बोलेंगे।'

सुरमा से अब न सहा गया। वह दोनों बाहुओं से उसका दृढ़ आलिंगन करके फूट-फूटकर रोने लगी—'बहू, मैं महापातकिनी हूं।'

बहू ने अपने को छुड़ाकर धीरे से कहा—'क्यों जीजी?'

'उफ् उसे अब मत सुनो। मैं नहीं कह सकूंगी।'

आंधी की तरह सुरमा यज्ञदत्त के सामने आ पहुंची। बोली—'बहू को इस तरह धोखे में रख छोड़ा है? उफ्, कैसे भयानक झूठे हो तुम!'

यज्ञदत्त दंग रह गया। 'यह क्या सुरो!'

'कृतविद्य हो तुम, छिः छिः, तुम्हें शरम आनी चाहिए थी।'

यज्ञदत्त कुछ मतलब नहीं समझ सका, सिर्फ कड़ुवी बातें सुनने लगा—

'क्या सोचकर ब्याह किया था?—क्या सोचकर उसे छोड़े हुए हो?—मेरे लिए? मेरा मुंह देखकर इस तरह धोखा देते आ रहे हो?'

'सुरमा, पागल हो गई क्या?'

'पागल मैं हूं? तुमसे मुझ में ज्यादा ज्ञान है, मुझे और कहीं भेज दो!' कहते हुए सुरमा की आंखें सुर्ख हो गईं, हांफती हुई बोली—'एक दंड मैं यहां नहीं रहना चाहती, छिः छिः।'

यज्ञदत्त ने बड़े जोर से चिल्लाकर कहा—'क्या कहती हो?'

'कहती हूं, तुम झूठे हो, धोखेबाज हो!'

निमेषमात्र में यज्ञदत्त के माथे के अंदर आग-सी जल उठी; बिना कारण ही उसे मालूम हुआ, उसके भीतर की आत्मा बाहर निकलकर उसे युद्ध करने के लिए ललकार रही है। ज्ञानशून्य होकर वह टेबिल पर रखा हुआ भारी 'रूलर' उठाकर जोर से चिल्लाता हुआ बोला—'मैं अधम हूं!—मैं धोखेबाज हूं, झूठा हूं!—और यह उसका प्रायश्चित्त करता हूं!'

कहते हुए यज्ञदत्त ने पूरी ताकत से उसे अपने सिर पर मार लिया। सिर फटकर झरझर खून बहने लगा। सुरमा अस्फुट स्वर से पुकार उठी—'मैया री!' उसके बाद वह बेहोश होकर जमीन पर गिर पड़ी। यज्ञदत्त ने उसे देखा, देखा कि स्वयं उसका तमाम मुंह खून से लथपथ हो गया है, आंखों में खून चला जाने से सब धुंधला-सा दिखाई देता है, वह उन्मत्त की तरह कहने लगा—'अब क्यों?' इतने में पीछे से किसी ने आकर पकड़ लिया। मुड़कर देखा, स्त्री है। रोता हुआ बोला—'तुम आ गई?'

कंधे पर सिर रखकर वह बेहोश हो गया।

सुरमा जिस तरह नीचे से ऊपर भाग आई थी, नई बहू उससे आश्चर्यान्वित और शंकित होकर चुपके से उसके पीछे-पीछे आकर दरवाजे के पास बाहर खड़ी हो गई थी; उसने सब बातें सुनीं और सब देख लिया। बहुत-सा सत्य उसके माथे के भीतर सूर्य के प्रकाश की तरह स्पष्ट हो गया, उसकी भी छाती की धड़कन तेज हो गई, आंखों के बाहर कुहरा-सा छाया जा रहा था; किंतु उसने अपने को सम्हालकर इस विपत्ति के समय पति को गोद में ले लिया।

छह दिन बाद अच्छी तरह होश आने पर, सुरमा ने पूछा—'भइया' की तबीयत कैसी है?'

दासी ने जवाब दिया, 'अच्छी है।'

'मैं देख आऊं।' कहती हुई सुरमा उठी, पर फिर पड़ रही। दासी ने कहा—'तुम अभी बहुत कमजोर हो और बुखार भी आ रहा है, उठो मत, डाक्टर ने मना किया है।'

सुरमा ने आशा की कि यज्ञ-भइया देखने आएंगे, बहू आएगी। एक दिन, दो दिन, करते-करते एक सप्ताह बीत गया; पर कोई नहीं आया। किसी ने खबर तक नहीं ली। बुखार अब नहीं आता, पर कमजोरी बहुत है। अब उठने की कोशिश करने से शायद उठ सकती; परंतु, जबरदस्त अभिमान के कारण उठने की प्रवृत्ति ही नहीं हुई उसे। वह अपने मन-ही-मन उफन-उफनकर रोने लगी और आंखें पोंछकर सोचती, अपनी प्रकाश और छाया की कहानी।

दीप्त प्रकाश और गाढ़ी छाया लेकर उन लोगों ने खेल शुरू किया था, अब प्रकाश बुझता-सा जा रहा है। मध्याह्न का सूर्य पश्चिम की ओर झुक गया है, गाढ़ी छाया इसी से अस्पष्ट और विस्तृत होकर प्रेत के समान कंकालसार हो गई है। वह छाया अज्ञात अंधकार की ओर

मानो उसमें खो जाने के लिए धीरे-धीरे खिसकती जा रही है। रोते-रोते सुरमा सो गई।

देह पर गरम हाथ रखकर किसी ने मानो बुलाया—'जीजी।'

सुरमा उठकर बैठ गई, बोली—'यह क्या बहू?'

आंखें उसकी लाल सुर्ख हो रही थीं, मुंह सूखा, ओठों पर स्यांही-सी पुत रही थी। सुरमा ने फिर पूछा—'क्यों बहू, क्या हुआ है तुम्हें?'

'क्या हुआ है मुझे? तुम मुझे इस घर में लाई थीं, इसी से कहने आई हूं तुमसे, जीजी, मुझे छुट्टी दे दो। मैं जाऊंगी?'

'क्यों बहन, कहां जाओगी?'

नई बहू सुरमा के पैरों पर सिर रखकर जमीन पर लोट गई।

सुरमा ने देखा कि उसकी देह आग-सी जल रही है। बोली—'यह क्या! तुम्हें तो खूब बुखार चढ़ा हुआ है।'

इतने में एक नौकरानी चिल्लाती हुई दौड़ी आई, बोली—'जीजी, बहूजी कहां गई? अरी मैया, बुखार की बेहोशी में ही भाग आई हैं। आज आठ दिन हुए, बेहोश पड़ी हुई हैं। मैया! कैसे आई यहां?'

'आठ दिन से बुखार है! डॉक्टर देख रहे हैं?'

'कोई नहीं जीजी, कोई नहीं देखता। परसों सबेरे भी बहूजी घंटे-भर तक नल के नीचे सिर किए बैठी रही थीं; इतना मना किया, पर एक न सुनी।'

शाम होने से पहले सुरमा यज्ञदत्त के कमरे में जाकर रो दी—'भइया, बहू का तो अब जीना मुश्किल है।'

'जीना मुश्किल है? क्या हुआ?'

'मेरे कमरे में चलकर देखो भइया, बहू का तो अब बचना मुश्किल है।'

दो-तीन डॉक्टरों ने आकर कहा—'प्रबल विकार है।' रात-भर परश्रिम करने के बाद सबेरे वे लोग विफल होकर चले गए।

रात-भर यज्ञदत्त सिरहाने बैठा रहा, कितनी ही बार मुंह के पास मुंह ले गया, पर बहू पति को नहीं पहचान सकी।

डॉक्टरों के चले जाने पर यज्ञदत्त रो उठा—'बहू, एक बार आंख खोलकर देखो, एक बार कह दो, क्षमा कर दिया।'

सुरमा पांव के पास कपड़े में मुंह छिपाकर अस्फुट स्वर में बोली—'भाभी, क्यों ऐसी सजा दे गई?'

कौन बात करता? संपूर्ण मान, अभिमान, अवज्ञा और अनादर को दूर हटाकर धीरे-धीरे वह अंत में विलीन हो गई।

सुरमा ने कहा—'भइया कहां हैं?'

दासी ने उत्तर दिया—'कल वे पछांह की तरफ कहीं चले गए हैं।'

'कब आएंगे?'

'मालूम नहीं, शायद जल्दी नहीं आएंगे।'

'मैं कहां रहूंगी?'

'मुनीमजी से कह गए हैं, जितने चाहो रुपए लेकर तुम्हारी जहां खुशी हो, वहां रहना।'

सुरमा ने आकाश की ओर देखा—देखा संसार का प्रकाश बुझ गया है, सूर्य नहीं है, चंद्र नहीं है, एक तारा भी नहीं दिखाई देता। अगल-बगल देखा—वह अस्पष्ट छाया भी न जाने कहां गायब हो गई है—चारों तरफ घोर अंधकार है। छाती की धड़कन भी मानो उसकी बंद होना चाहती है, आंखों की ज्योति भी म्लान और स्थिर होना चाहती है।

दासी ने बुलाया—'जीजी!'

ऊपर को देखते हुए सुरमा ने पुकारा—'यज्ञ भइया!' उसके बाद वह धीरे-धीरे लुढ़क पड़ी। ❖

सितार को लीजिए। सितार में तार होते हैं। अकेले उन तारों को ही जमीन पर रखिए। उन पर अंगुली फिराइए। उनसे कोई ध्वनि नहीं निकलेगी; लेकिन उन्हीं तारों को सितार की खूंटी से बांधिए। अब तो उन बंधनों में जकड़े हुए तारों में से मस्त बना देने वाला संगीत निकलने लगेगा। वे जड़ तार चैतन्य बन जाते हैं। उनमें से अपार माधुर्य झरने लगता है। संयम में संगीत प्रकट होता है।

—पांडुरंग सदाशिव साने

तुलसीरमण की कविताएं

•

राग

नदी से दौड़ना
सीखता मृगछौना

आकाश के आमंत्रण पर
निरंतर ऊंचा
उठना चाहता देवदार

बर्फ के साथ-साथ
जमता और पिघलता पहाड़

फूलों के रंग
रचा लेती तितली
अपने पंखों में

ग्वाले का गीत दोहराता
सामने का विकराल ढांक

शंख की तरह बजता
मंदिर के आंगन का
श्वान
दुनिया के राग में रोता
नवजात शिशु
ईश्वर के समक्ष
एक साथ कराहती
प्रेम करती
उसकी ओर अग्रसर
मुक्ति की कामना में
सृष्टि

•

बोध

उसने देह को सुंदर देखा
वाणी को मधुर
स्पर्श को सुखकर
और श्वास को
सुगंधित

उसने चित्त को
मलिन पाया

सलापड़

पर-कटे पर्वत का
बींध कर उदर
पानी से पानी मिला
घाटी से घाटी

मानसरोवर में जा डूबा
व्यास-कुंड
शतद्रु से जा गले मिली
वत्सला विपाशा

मस्तिष्क के विस्तार में
आदमी के हाथों ने
भविष्य के लिए रचा है
एक और पुराण

•

समाधि

प्राणियों की देह देह
बर्फ के भीतर
सुलग रही आग

हर घर से उठ रहा
निरंतर
धुआं धुआं जीवन

श्वेत आच्छादन के नीचे
मिट्टी का दीया जलता हुआ

रोशनी में सिर झुकाए
साधना में मौन
मनुष्य
पशु और पेड़

❖❖

शीलन

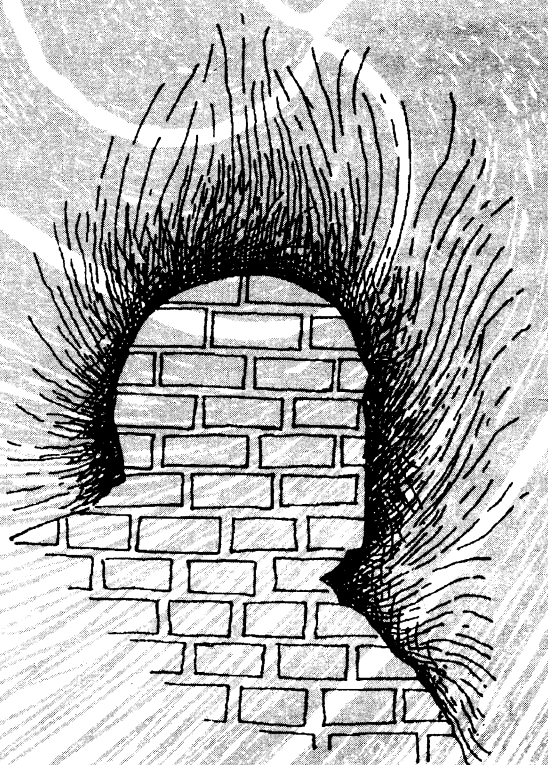

मैं एक सीमित अस्तित्व हूं, तो असीमित को कैसे समझ सकता हूं। ज्यों ही वैसा करता हूं, मैं खुद असीमित हो जाता हूं। अर्थात् मैं कतई मैं नहीं रह जाता हूं। वह सीमित वजूद नहीं रह जाता जो अपनी चेतना आप रखता है। अगर मैं असीम का ज्ञान पा लेता हूं—तो वह मेरी बुद्धि द्वारा अर्जित ज्ञान नहीं है। क्योंकि बुद्धि सीमित है, एक सीमित बुद्धि निस्सीम के बारे में कभी नहीं जान सकती। असीम को सीमित द्वारा जानने का उपक्रम करना बेकार की कसरत है। यह केवल मोह-मुद्रा में जाना जा सकता है। मोह-मुद्रा में आत्मा, अपने भौतिक बंधनों से आजाद हो जाती है। वह व्यक्तिगत चेतना से अलग हो जाती है और निस्सीम तेज में विलीन हो जाती है जिससे वह निकलती है।

—एम. एन. राय

जिस प्रकार घर साफ रखने के लिए घर का कूड़ा-करकट प्रतिदिन साफ करना होता है उसी तरह हमें मन के कचरे को प्रतिदिन साफ करना चाहिए। दीनता-हीनता, चिंता, भय, संदेह, ईर्ष्या, वैर-विरोध के जो विचार हैं, ये सब विचार उस कचरे के समान हैं जो अनेक प्रकार की बीमारियों के कारण बनते हैं। अपने मानसिक स्वास्थ्य को अच्छा रखने के लिए यह आवश्यक है कि जितना जल्दी हो सके, इन विचारों को छोड़ें, इन्हें बाहर निकालें और ऐसी व्यवस्था करें कि ये दिमाग में प्रवेश भी न पा सकें। नए और उत्तम विचार निरंतर मन में लाने का प्रयास करें। हमेशा स्वास्थ्य, सद्भावना, प्रगति और विकास के ही विचार मस्तिष्क में रहें। इस प्रकार सकारात्मक, स्वस्थ व सफलतामूलक विचारों से ऊर्जा के नए स्रोत खुलने लगेंगे।

❑ मुनि प्रशांतकुमार ❑

भीतर हैं शक्ति के अक्षय स्रोत

हम सभी असीम शक्तियों को अपने भीतर छुपाए हुए हैं, क्या ऐसा महसूस नहीं करते? हमें अनुभव हो या न हो, पर यह सत्य है कि शक्ति के अक्षय स्रोत हमारे भीतर हैं। हमें उनको जागृत करना और उनका सदुपयोग करना सीखने की जरूरत है। अधिकांश व्यक्ति अपनी इस शक्ति का उपयोग नहीं कर पाते हैं। व्यर्थ और अनावश्यक चिंताएं तथा काल्पनिक भय से शक्ति के स्रोतों की मौलिक क्षमता नष्ट हो जाती है। सोचने और सही निर्णय लेने की स्वाभाविक महत्त्वपूर्ण शक्ति नकारात्मक मानसिक स्थितियों से बुरी तरह प्रभावित होती है। नकारात्मक प्रभाव रचनात्मक शक्ति के लिए विषाक्त भोजन की तरह है जो अंदर-ही-अंदर उसे दुर्बल बनाकर नष्ट कर देता है।

चिंता दहति जीवितम्

ऐसे कितने ही व्यक्ति हैं जो हर समय चिंता और अवसाद से ग्रस्त रहते हैं। वे यह जानते हैं कि इस तरह की चिंता से कोई लाभ नहीं हो रहा, फिर भी वे इस प्रवृत्ति के शिकार हो जाते हैं। वे दिन-रात उसी से प्रभावित रहते हैं और उनकी आंतरिक शक्तियां इस चिंता की आग में जलकर नष्ट हो जाती हैं। चिंताएं मनुष्य के मस्तिष्क को कुंठित कर देती हैं, सोचने-समझने की शक्ति क्षीण हो जाती है। मस्तिष्क असंतुलित, अशांत और व्यथित-सा बना रहता है। जब सोचने-समझने की शक्ति ही नहीं हो, मस्तिष्क में कुंठाएं व्याप्त हों, ऐसी अवस्था में लिया गया कोई भी निर्णय सही और लाभकारी नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में सारे कार्य ही बिगड़ने लगते हैं। काम बिगड़ने से उत्साह, उल्लास और कार्य करने का साहस समाप्त होने लगता है। चिंता को चिता से भी भयानक बताया गया है। चिता तो मुर्दे को जलाती है, पर यह चिंता ऐसी चिता है कि जीवित व्यक्ति को भीतर-ही-भीतर सतत जलाती रहती है। एक संस्कृत श्लोक दृष्टव्य है :

चिंता चिता समा प्रोक्ता, को भेदश्चिता चिंतयोः।
चिता दहति निर्जीव, चिंता सजीवमप्यहोः॥

चिंता के अंतिम परिणाम असफलता, कुंठित जीवन और आत्महत्या के रूप में सामने आते हैं। चिंता-ही-चिंता में आदमी हर तरह से निराश हो जाता है। उसकी चिंतन-शक्ति और विवेक भी कुंठित होने लगते हैं। चिंताग्रस्त

व्यक्ति जिस कार्य में भी हाथ लगाएगा, सफलता संदिग्ध होगी।

मनोरोग है भयग्रंथि

काल्पनिक भय मानव मन की एक स्थिति है। एक ग्रंथि के रूप में मानव मन की गहराइयों में भय छुपा रहता है। थोड़ी भी अनपेक्षित परिस्थिति आते ही वह प्रकट हो जाता है। कुछ लोगों में यह ग्रंथि अधिक मात्रा में सक्रिय होती है। ऐसी स्थिति में वे लोग हर समय ही भयभीत बने रहते हैं।

कुछ लोगों में किसी घटनाविशेष का भय समाया रहता है तो कुछ व्यक्ति सामान्य निमित्तों के सामने आते ही भय के शिकार हो जाते हैं। अधिकांश व्यक्ति अपने भविष्य को लेकर ज्यादा भयग्रस्त दिखाई देते हैं। उन्हें अपना भविष्य समस्याओं और कठिनाइयों से भरा हुआ अंधकारमय नजर आता है। अनेक तरह की बुरी कल्पनाएं और आशंकाएं उनके मन पर हर समय सवार रहती हैं। अपने ही विचार उन्हें इस तरह से सताते रहते हैं कि वे शांति व निश्चिंतता की सांस ले ही नहीं पाते। मनोवैज्ञानिकों ने इस पर गहरा अध्ययन किया है और इस मानवीय दुर्बलता को अनेक रूपों में उजागर किया है। मनोविज्ञानी मानते हैं कि इस तरह की मनःस्थिति का समय रहते उपचार हो जाए या सही मार्गदर्शन मिल जाए तो व्यक्ति मानसिक पागलपन से बच सकता है।

भय की ग्रंथि एक बार बन जाए तो फिर वह धीरे-धीरे और गहन होती चली जाती है। मनुष्य के जीवन-रस को यह ग्रंथि सोख लेती है। जीवन की सारी खुशियां, उत्साह और आनंद इसकी चपेट में आ जाते हैं और वे खत्म हो जाते हैं। आने वाले कल की चिंता कल की परेशानी को कभी कम नहीं करती, बल्कि आज के हमारे उत्साह को, आनंद को अवश्य नष्ट कर देती है।

कर्मशक्ति को कुंठित न होने दें

कुछ लोग अच्छी प्रतिभा और अपेक्षित योग्यता होते हुए भी परिस्थितियों से संत्रस्त-से हो जाते हैं। वे स्वयं को दीन-हीन समझकर अपनी कर्मशक्ति को ही कुंठित किए रहते हैं। अपने विचारों से ही वे अपने को गिरा हुआ महसूस करने लगते हैं। किसी भी अच्छे कार्य को करने से पूर्व अपने ही मन में शंकित हो उठते हैं कि पता नहीं इसे वे कर पाएंगे या नहीं? यदि कहीं असफल हो गए तो लोग क्या कहेंगे? असफलता के इस तरह के विचार से ही वे भयभीत हो जाते हैं। अपनी ही सोच उन्हें निरुत्साहित करने लगती है। यही हीन सोच उनके कार्य-सामर्थ्य को पंगु बना देती है। यदि जीवन में किसी को आगे बढ़ना है, अपने जीवन को सहज, स्वाभाविक और प्रभावशाली बनाना है, तेजस्वी जीवन जीना है तो अपने विचारों को थोड़ा मोड़ दें। उन्हें सकारात्मक दिशा में आगे बढ़ाएं।

हमारे जीवन का और हमारे शरीर का विकास हमारे विचारों के अनुरूप ही होता है। जैसे हमारे विचार होंगे वैसे ही प्रभाव हमारे चेहरे-मोहरे और हमारे हाव-भाव पर पड़ेंगे। शरीर की मुद्राएं और चेष्टाएं भी उसी अनुरूप बनने लगेंगी। जीवन उसी सांचे में ढलता जाएगा जिस प्रकार के विचार हमारे मस्तिष्क में घूमते हैं। विचारों में यदि सामंजस्य, संतुलन और सहजता नहीं है तो शरीर का आकार-प्रकार विकारयुक्त हो सकता है। वह अस्वाभाविक और अस्वस्थ हो सकता है। ऐसी स्थिति में मानसिक क्रियाएं भी विद्रूपता लिए होंगी और उनके कार्य वीभत्स होंगे।

खोलें अपने ऊर्जा स्रोत

यदि अपने व्यक्तित्व को हम सुंदर, आकर्षक और प्रभावशाली बनाना चाहते हैं तो सबसे पहले हमें उदात्त, पवित्र और प्रफुल्लित विचारों को अपनाना होगा, उन्हें गहरा बनाने और अपने क्रिया-कलापों को सही दिशा में ढालने का प्रयास करना होगा। ऐसा करके अपने विचारों को बदल सकते हैं। जैसे-जैसे ये सद्विचार जीवन में ढलते जाएंगे, हममें आत्मविश्वास जागेगा। भय, चिंता और हीनता के विचार स्वतः छूटते जाएंगे।

जिस प्रकार घर साफ रखने के लिए घर का कूड़ा-करकट प्रतिदिन साफ करना होता है उसी तरह हमें मन के कचरे को प्रतिदिन साफ करना चाहिए। दीनता-हीनता, चिंता, भय, संदेह, ईर्ष्या, वैर-विरोध के जो विचार हैं, ये सब विचार उस कचरे के समान हैं जो अनेक प्रकार की बीमारियों के कारण बनते हैं। अपने मानसिक स्वास्थ्य को अच्छा रखने के लिए यह आवश्यक है कि जितना जल्दी हो सके, इन विचारों को छोड़ें, इन्हें बाहर निकालें और ऐसी व्यवस्था करें कि ये दिमाग में प्रवेश भी न पा सकें। नए और उत्तम विचार निरंतर मन में लाने का प्रयास करें। हमेशा स्वास्थ्य, सद्भावना, प्रगति और विकास के ही विचार मस्तिष्क में रहें। इस प्रकार सकारात्मक, स्वस्थ व सफलतामूलक विचारों से ऊर्जा के नए स्रोत खुलने लगेंगे।

विचारों को बदलें

हमें यह दृढ़ विश्वास रखना चाहिए कि विचारों को बदला जा सकता है। परिवर्तन की संभावना हर व्यक्ति में

है। मूर्ख से मूर्ख व्यक्ति भी एक दिन महान व्यक्ति बन सकता है। यह धारणा बनाकर कभी न बैठें कि जीवन में अब कोई बदलाव आने वाला नहीं है। ऐसे अनेक उदाहरण हैं कि जीवन में बड़े-बड़े परिवर्तन घटित हो गए कि लोग आश्चर्य करने लगे। एक ही घटना से चित्तवृत्ति बदल सकती है। चित्तवृत्ति बदली कि जीवन बदला। महाकवि कालिदास का उदाहरण हमारे सामने है।

विजय प्राप्त करें

किसी को यदि लगता है कि दीन-हीनता, भय और चिंता से वह ग्रस्त है तो इस मनोदशा को तत्काल बदलने पर ध्यान दिया जाना चाहिए। मस्तिष्क जैसे चिंता और भय को बढ़ाने वाली छोटी-से-छोटी बात को ग्रहण कर लेता है, वैसे ही वह निर्भीकता, प्रसन्नता और आत्मविश्वास की बातों को भी ग्रहण कर लेगा। इसके लिए संकल्पपूर्वक प्रयास करने की जरूरत है। जिस व्यक्ति का मस्तिष्क जितना अधिक ग्रहणशील और संवेदनशील होगा, वह उतनी ही तीव्रता से अपने अंदर परिवर्तन करने में समर्थ होगा। समस्याओं पर शीघ्र विजय प्राप्त करने की क्षमता भी तीव्रता से आने लगेगी।

इसके लिए इन बातों को याद रखना चाहिए—1. अपनी कमियों व दोषों को पहचान कर उन्हें दूर करने को उद्यत हों। मनुष्य का यह सर्वोत्तम गुण है। 2. प्रयास और अभ्यास से विचारों में परिवर्तन संभव है। 3. भय, निराशा और चिंता शक्ति को नष्ट करने वाले तत्त्व हैं, जितना जल्दी हो सके इनसे मुक्ति पाएं। इसी से प्रबल आत्मविश्वास जागृत होगा।

विश्वास की शक्ति अप्रतिम है

आत्मविश्वास की शक्ति को जो साध लेता है वह जीवन में क्या नहीं कर सकता? अपने प्रबल आत्मविश्वास के बल पर बीमार व्यक्ति स्वस्थ बन जाता है, अल्पज्ञ प्रज्ञावान बन सकता है और हार विजयश्री में बदल जाती है। स्वयं पर विश्वास एक शक्तिशाली विचार है। स्वयं का विश्वास ही विशालता प्रदान करता है। यह विश्वास ही शक्ति का संचार करता है—'मुझे अपने प्रयासों में निश्चित रूप से सफलता मिलेगी, क्योंकि मेरे प्रयास सही दिशा में सही ढंग से हो रहे हैं'—सफलता के लिए स्वयं पर ऐसा विश्वास-सृजन ही सफलता का हेतु बनता है।

मस्तिष्कीय क्षमताओं पर विश्वास करें

हम अपने मस्तिष्क पर कितना विश्वास करते हैं—हमारे प्रयत्नों और मिलने वाली सफलता में इस तत्त्व की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। जितना गहरा विश्वास अपने मस्तिष्क पर होगा उतनी ही विश्वसनीयता से हम अपने-आप को चमत्कृत होता महसूस करेंगे।

मस्तिष्क की अप्रतिम क्षमताओं पर विश्वास करने की जरूरत है। हम पाएंगे कि सूक्ष्म-सा विश्वास ही व्यक्तित्व में चामत्कारिक परिवर्तन घटित कर देता है।

मानवीय जीवन की एक अन्य संचालक शक्ति है—भाव। भाव यदि विशुद्ध बनते हैं तो हमारी सोच भी सकारात्मक हो जाती है। भावों की अशुद्धि से ही नकारात्मकता और वैसे ही विचार पैदा होते हैं। भाव-विशुद्धि का परिणाम होता है—सही व्यवहार, पवित्र आभामंडल, सफलता और सहज संतोष। जबकि अशुद्ध भाव का परिणाम होगा—नकारात्मक व्यवहार, विफलता, मलिन आभामंडल और असंतोष।

प्रेक्षाध्यान पद्धति में भाव-विशुद्धि के जो उपाय बताए गए हैं, उनका अभ्यास अत्यंत लाभदायक सिद्ध हो सकता है। ये उपाय हैं—

1. लेश्याध्यान, 2. मैत्री की अनुप्रेक्षा, 3. करुणा की अनुप्रेक्षा, 4. सहिष्णुता की अनुप्रेक्षा।

भावना योग से सिद्धि

जैन आगमों का महत्त्वपूर्ण शब्द है—'भाविअप्पा' अर्थात् भावितात्मा। जो भावितात्मा होता है वह अपनी भावना के अनुसार काम करने में, इच्छित लक्ष्य को पाने में सफल होता है। अनुप्रेक्षा की प्रक्रिया के द्वारा वह अपने संकल्प को, अपने विश्वास को शरीर की प्रत्येक कोशिका तक, प्रत्येक 'न्यूरान्स' तक पहुंचा देता है, उन्हें अपनी विशुद्ध भावना से भावित कर देता है। इस प्रकिया से उसे इष्ट सिद्धि प्राप्त हो जाती है। लक्ष्य सिद्धि की इस विधा को भावना-योग भी कहते हैं।

हमारा मस्तिष्क विचारों एवं विश्वास का सर्वोत्तम संवाहक है, जो सफलता को सुनिश्चित करता है। जब हम अपने भाव शुद्ध बना लेते हैं और सकारात्मक विश्वास की रचना करते हैं तभी हमारा मस्तिष्क इन संदेशों को शरीर में प्रसारित कर अपनी गतिविधियों को सफलता की ओर सक्रिय करता है, शरीर को उसी अनुरूप प्रोत्साहित करता है और हम सफल हो जाते हैं।

दृढ़ विश्वास से होती है कार्य-सिद्धि

जो व्यक्ति कार्य-क्षेत्र में उतरकर सफल होने की इच्छा रखते हैं, उन्हें अपने मन में ऐसी बातें कदापि नहीं

सोचनी चाहिए कि 'मैं चाहता हूं कि सफल होऊं, किंतु मुझे विश्वास नहीं हो रहा कि जो कार्य मैं करना चाहता हूं उसे करने का पात्र भी मैं हूं या नहीं। अच्छे-अच्छे लोगों को भी जब कुछ नहीं मिला, तब मेरी तो गणना ही कहां हैं। मैं भी शायद भूल ही कर रहा हूं।'

जिनके मन में संदेह की ऐसी भावना होती है, जो भी काम वे करेंगे, निश्चय ही उसमें डगमगा जाएंगे।

जो व्यक्ति अपने लक्ष्य तक पहुंचने के मार्ग में मिलने वाली बाधाओं और असफलताओं की परवाह नहीं करता, जिसे अपनी सफलता और विजय पर पूर्ण विश्वास होता है—अंततः वही विजयी होता है। यदि मन में भय और संकोच है, निषेधात्मक चिंतन सक्रिय है, तो वह व्यक्ति उपलब्धियों से वंचित ही रहेगा। मन में दृढ़ विश्वास ही कार्यसिद्धि का निमित्त होता है। विश्वास के बल पर जो दृढ़ता उत्पन्न होती है, उसी से अंतःशक्ति के अजस्र स्रोत फूटते हैं।

किसी औद्योगिक घराने के एक प्रमुख ने अपने कार्मिकों के सामने एक बड़ा-सा सफेद कागज रखा जिसके मध्य में काली स्याही से एक बिंदु अंकित था। बारी-बारी से हर कार्मिक से पूछा गया कि उन्हें कागज पर क्या-क्या नजर आ रहा है? सभी का उत्तर था कि कागज के मध्य में एक काला बिंदु (डॉट) अंकित है और वही नजर आ रहा है। लेकिन उद्योग-प्रमुख ने उन सबको बताया कि काले धब्बे के चारों ओर जो श्वेत-धवलता फैली हुई है, क्या वह नजर नहीं आ रही? यही समस्या है—काला धब्बा तो सभी देखते हैं, पर श्वेत धवलता कौन-कौन देख पाता है?

हम भी अपने जीवन में काले धब्बे तो देखते हैं, पर जो श्वेत-धवल आभा है, उस ओर भी हमारा ध्यान जाना चाहिए। ऐसा सकारात्मक दृष्टिकोण हमारे आत्म-विश्वास को सुदृढ़ करने में सहायक होता है।

अपने विश्वास को सकारात्मक दिशा दी जानी चाहिए। सकारात्मक विश्वास की शक्ति से जीवन में महत्त्वपूर्ण कार्य संपन्न हो सकते हैं। वस्तुतः सकारात्मक विश्वास ही अप्रतिम ऊंचाइयों तक पहुंचा सकता है। ❖

आज का युग मानव-चेतना के लिए कितना भयानक रेगिस्तान साबित हुआ है, उसमें कितनी पथभ्रष्ट करने वाली मृगमरीचिकाएं रही हैं, (जिनमें से कुछ की असलियत वर्षों पहले खुल गई है और कुछ की अब खुल रही है) कितने भयानक अंधड़ चलते रहे हैं और मानव की सहज रस-स्निग्धता को निगलने के लिए, कितने भूखे पशु विचरण करते रहे हैं—मनुष्य को जड़ बनाने वाला जड़वाद, आर्थिक सुविधाएं छीनकर कुंठित और बौना बनाने वाला पूंजीवाद, विचार-स्वातंत्र्य का अपहरण कर मनुष्य को पशुधर्मी बनाकर व्यक्ति-पूजा कराने वाला तथाकथित समष्टिवाद और जाने कितनी ही पद्धतियां और सत्ताएं जो इस जड़वादी युग की देन हैं, वे मनुष्य से उसकी सहज रागात्मकता, श्रद्धामयता तथा उसके विकास की अमित संभावनाएं छीनने में तत्पर हैं। आज दार्शनिक, वैज्ञानिक, समाजशास्त्री, सभी इस व्यापक संकट के प्रति सचेत हैं और अपनी दिशा में इसके निराकरण के उपाय ढूंढ़ रहे हैं।

—धर्मवीर भारती

चीनी लोककथा

सांप ने कहा, 'मैं पहले एक छोटी इल्ली था। मुझे उस संदूक में काफी लंबे समय तक बंद कर दिया गया था। इसने मुझ पर दया की और मुझे संदूक से बाहर निकाला। जब मैंने सूर्य की किरणें देखीं और ताजा हवा में सांस ली, तो मैं एक बड़े सांप में बदल गया। इसने मुझे जीवित रहने दिया, मगर मैं भूख से मरता हुआ कैसे जी सकता हूं? मुझे खाने की कोई भी चीज नहीं मिली, इसलिए मैं इसे खा जाऊंगा, हालांकि यह एक दयालु आदमी है।'

❑ छ्यैन युडमिड ❑

दादा की सीख

बहुत पहले पातुर नामक एक बूढ़ा था। उसका एक पोता था जिसका नाम तुरसन था। तुरसन बचपन में ही अनाथ हो गया था और उसके दादा द्वारा ही पाला पोसा गया था। वह मूर्ख था, इसलिए लोग उसे 'छोटा बुद्धू' कहते थे। वह बहुधा बेहूदा बातें और बुद्धिहीन कार्रवाइयां करता रहता था! यहां तक कि वह जंगली फल तोड़ने के लिए अपने दादा के मनपसंद बाजे, रबाब, का उपयोग करता था। इस सबसे दादा बहुधा झुंझला उठता था। अपने पौत्र को बखेड़ा खड़ा करने से रोकने के हेतु वह उसे चेतावनी दिया करता था, 'छोटे बुद्धू, याद रखना, ऐसी कोई बात मत कहना जो अचानक तुम्हारे विचार में आई हो, ऐसी कोई चीज मत ले लेना जिसे तुमने रास्ते में पड़े देखा हो, और ऐसे किसी मार्ग पर मत चलना जो तुम्हें चलते-चलते मिल गया हो।'

एक दिन, तुरसन को बाजार से लौटने में थोड़ी देर हुई, इसलिए उसने जल्दी ही घर लौटने के लिए एक कम फासले वाला छोटा रास्ता पकड़ लिया। वह अपने गधे पर सवार होकर चलता जा रहा था कि अचनाक उसे एक छोटा संदूक मार्ग के मध्य पड़ा नजर आया। संदूक को एक तरफ हटाने के विचार से वह गधे से नीचे उतरा। 'ओह, यह कितना सुंदर संदूक है! इस पर नक्काशीदार सोना-चांदी भी चढ़ाई हुई है! यद्यपि इसका ताला बंद है, मगर चाबी इसके किनारे पर ही लटकी हुई है।' उसने संदूक को गधे पर लाद दिया और फिर आगे बढ़ता गया। अचानक उसे दादा की बात याद आई, 'ऐसे मार्ग पर मत चलो जो तुम्हें राह चलते मिल गया हो।' वह फिर से मुख्य मार्ग पर चलने लगा।

थोड़ी देर चलने के बाद उसके गधे को मार्ग के किनारे पर उगा एक शहतूत का पेड़ दिखाई पड़ा और वह शहतूत खाने के लिए रुक गया। जब तुरसन गधे को आगे हांकने का कोई उपाय नहीं सोच पाया तो वह नीचे उतरकर इंतजार करने पर बाध्य हो गया। उसने संदूक को गौर से देखा और मन में सोचा, 'इतने सुंदर संदूक में अवश्य ही कोई-न-कोई मूल्यवान चीज रखी होगी। इसे खोलकर क्यों न देख लूं?' उसने संदूक खोला। लेकिन, इसमें सुई की नोंक जितनी छोटी सुनहरी इल्ली के अलावा अन्य कोई वस्तु नहीं थी।

उसने दयाभाव से इल्ली से कहा, 'छोटे प्राणी, मैं तुम्हें मुक्त किए देता हूं।' यह कहते हुए उसने इल्ली को संदूक से निकालकर फेंक दिया।

इल्ली धीरे-धीरे रेंगती हुई मार्ग के बीच में जा पहुंची। उसने सिर उठाकर पहले दाईं ओर और फिर बाईं ओर चार-चार चक्कर लगाए। फिर वह अचानक ही एक बहुत लंबे सांप के रूप में बदल गई। उसकी आंखों में भयावह प्रकाश भरा हुआ था। ऐसा लग रहा था मानो वह तुरसन को निगलने ही वाला हो। घबराकर तुरसन चिल्लाया, 'नमकहराम, जब तुम इल्ली मात्र ही थे, मैंने तुम पर दया की और तुम्हें सूर्य देखने और ताजा हवा में सांस लेने दिया। किंतु अब तुम एक पिशाच का रूप धारण कर मुझे खाना चाहते हो!'

सांप बोला, 'बुद्धू, मैं हमेशा ही मुझ पर दया करने वालों को खा लेता हूं! तुमने मुझ पर दया की थी? ठीक है, अब मैं भूखा हूं और मैं तुम्हें खा लूंगा!'

तुरसन ने भयभीत होकर कहा, 'क्या? तुम ऐसी बात कैसे कह सकते हो? चलो, हम किसी को न्याय करने के लिए ढूंढ़ लें जो यह निर्णय कर दे कि तुम सही हो या मैं। अगर तुम सही हो, तो तुम मुझे खा लेना!'

लेकिन इस अंधेरे सुनसान मार्ग पर वह किसी आदमी को कहां से ढूंढ़ पाता?

सांप ने रूखे स्वर में कहा, 'बुद्धू, यहां न्याय करने के लिए कोई आदमी नहीं है! जो भी हो, मैं तो तुम्हें खा ही लूंगा। अच्छा हो कि तुम जल्दी से मेरे पास चले आओ! नहीं तो, तुम्हें और ज्यादा दुख भोगना पड़ेगा।'

तुरसन ने उदासी-भरे स्वर में कहा, 'तो हम इस शहतूत के पेड़ से न्याय करा लें?'

सांप ने जवाब दिया, 'अच्छा। आखिरकार तो मैं तुम्हें खा ही लूंगा। इसलिए मैं तुम्हारी यह अंतिम मांग माने लेता हूं।'

तुरसन शहतूत के पेड़ के पास चला आया। उसने श्रद्धा के साथ उसे प्रणाम किया और चिरौरी-भरे लहजे में कहा, 'शहतूत पेड़ चाचा, आप ही न्याय कीजिए। यह दुष्टात्मा पहले एक छोटी इल्ली थी। मैंने उस पर दया की और उसे मुक्त किया। अब वह एक बड़े सांप के रूप में बदल गई है और मुझे खाना चाहती है। यह कृतघ्नता नहीं तो और क्या है?'

शहतूत के पेड़ ने जवाब दिया, 'छोटे बुद्धू, तुम हार गए! कहावत है, 'अच्छा आदमी दीर्घजीवी नहीं हो पाता है।' मुझे ही देखो, मैं हर साल लोगों को रेशम के कीड़े पालने के लिए बहुत-से पत्ते और खाने के लिए बहुत-से मीठे फल दिया करता हूं। फिर भी लोग लाठी से मुझे पीटते रहते हैं। हाय, दुनिया में न्याय तो है ही नहीं! तुमने सांप को मुक्त किया है न? तो तुम बिना ऐतराज किए उसे तुम्हें खा लेने दो!'

यह सुनकर सांप और अधिक प्रसन्न हो गया। 'हा-हा-हा...तुम हार गए!' उसने रक्त जैसी लाल आंखें घुमाते हुए, तसले जैसा बड़ा मुंह खोलकर क्रूरतापूर्वक कहा, 'बुद्धू, तुमने मिस्टर शहतूत की बातें सुनी न? तुमने मुझे मुक्त किया, इसलिए मैं तुम्हें खा लूंगा।...'

तुरसन घबराकर पीछे हटता गया और कांपती आवाज में बोला, 'ठहरो, ठहरो। वह तो केवल एक पेड़ मात्र ही है, मनुष्य नहीं है! हम...हम न्याय करने के लिए एक मनुष्य को ढूंढ़ें...।'

शहतूत के पेड़ ने फिर कहा, 'अच्छा, अच्छा। तुमने एक बार तो प्रयास कर लिया। तुम एक बार फिर प्रयास कर सकते हो।' उसने मुड़कर सांप से कहा, 'सांप भाई, जल्दी मत करो। जो भी हो, आपको वह खाने को मिलेगा ही। आप उसे एक और मौका क्यों नहीं देते?'

सांप ने अभिमान-भरे स्वर में कहा, 'तो ठीक है, मैं उसे एक मौका और देता हूं। जो भी हो, यहां उसके समान मूर्ख नहीं मिल सकेगा।'

इसी समय दादा पातुर छड़ी टेकते हुए कंधे पर रवाब लटकाए वहां चले आए। उन्होंने दूर से अपने पोते को देखा और खुशी से पुकारा, 'नासमझ लड़के, मैं तुम्हारी प्रतीक्षा करते-करते थक गया हूं! अंधेरा होने ही वाला है, तुम घर क्यों नहीं लौटते?'

तुरसन को अपने दादा को देखते ही हिम्मत हुई। वह ऊंची आवाज में चिल्लाया, 'दादा, दादा, जल्दी आओ! आकर मुझे बचाओ!'

'मेरे बच्चे, क्या हुआ? क्या बात है?' दादा हड़बड़ाकर उसकी ओर लपक गए। तुरसन ने अपनी आपबीती दादा को कह सुनाई। दादा ने सांप को एक नजर देखा और कहा, 'तुम दोनों ने जो बातें कहीं वे सब झूठी हैं!'

'दादा, आप भी मेरी बात पर विश्वास नहीं करते?' तुरसन को आश्चर्य हुआ।

'बच्चे, तुम मूर्ख हो! सुई की नोंक जितनी छोटी इल्ली इतने बड़े सांप के रूप में कैसे बदल सकती है?' फिर उन्होंने सांप की ओर मुड़कर कहा, 'सांप भाई, अच्छा हो यदि तुम स्वयं मुझे बताओ कि तुम किस प्रकार इतने बड़े सांप के रूप में बदले?'

सांप ने कहा, 'मैं पहले एक छोटी इल्ली था। मुझे उस संदूक में काफी लंबे समय तक बंद कर दिया गया था। इसने मुझ पर दया की और मुझे संदूक से बाहर निकाला। जब मैंने सूर्य की किरणें देखीं और ताजा हवा में सांस ली, तो मैं एक बड़े सांप में बदल गया। इसने मुझे जीवित रहने दिया, मगर मैं भूख से मरता हुआ कैसे जी सकता हूं? मुझे खाने की कोई भी चीज नहीं मिली, इसलिए मैं इसे खा जाऊंगा, हालांकि यह एक दयालु आदमी है।'

दादा ने क्रोध से कहा, 'तुम झूठ बोलते हो! मैं जानना चाहता हूं कि तुम किस प्रकार एक बड़े सांप के रूप में बदले। यह कदापि संभव नहीं हो सकता! अन्यथा, तुम पुनः उसी संदूक में घुसो और फिर एक बार बदलकर मुझे दिखाओ! जब तक मैं अपनी आंखों से तुम्हें सचमुच बदला हुआ नहीं देख लेता, तब तक मैं तुम्हारा विश्वास नहीं कर सकता!'

इसके पश्चात, बड़े सांप ने फिर एक बार सिर उठाकर, पहले दाईं ओर और फिर बाईं ओर चार चक्कर लगाकर स्वयं को सुई की नोंक जैसी छोटी इल्ली के रूप में बदल लिया और संदूक में जा घुसा। दादा पातुर ने अपनी छड़ी से जमीन पर पड़े ताले की ओर इशारा किया, तो तुरसन को शीघ्र ही उनका मतलब समझ में आ गया। उसने तुरंत ही ताला उठाकर उसे संदूक पर लगा दिया।

इस बार तुरसन ने अपने दादा का उपदेश याद किया। वह गधे को खींचते हुए दादा के पास आया और उन्हें सहारा देकर गधे पर चढ़ा दिया। इसके बाद वह स्वयं गधे के पीछे-पीछे चलता जा रहा था। दादा ने अपने पोते में नई बुद्धि आ जाने के कारण प्रसन्नतापूर्वक अपना मनपंसद रवाब बजाना शुरू किया, और तुरसन भी उनके पीछे चलते हुए खुशी से गा रहा था :

'दुनिया में सबसे अधिक मूल्यवान वस्तुएं क्या हैं?
नमदा बूट, पपड़ीदार मालपुए, भेड़ के फरवाला जाकेट।
इनसे भी अधिक मूल्यवान और क्या-क्या हैं?
मनुष्य की कृपा होती कहीं अधिक मूल्यवान।
सस्ते दामों पर कभी बिकती नहीं दयालुता,
अर्पित की जाती नहीं कभी अंधाधुंध यह।
दैत्य और दानवों पर दिखलाओ मत दया,
चाहे वे दिखने में बेहद मृदु, सौम्य हों।' ❖

सृष्टि की सभी वस्तुएं तुममें विद्यमान हैं और तुममें जो सभी वस्तुएं हैं, वे सृष्टि में विद्यमान हैं। तुममें और निकटतम वस्तुओं के बीच कोई सीमांत रेखा नहीं है तथा तुममें और इतरतम वस्तुओं के बीच कोई दूरी नहीं है। नीचे से लेकर ऊंचाई तक, क्षुद्र से लेकर स्थूलतम तक, सभी वस्तुएं तुम्हारे अंदर समरूप हैं। पृथ्वी के सभी तत्त्व एक अणु में निहित हैं; मन की एक गति में अस्तित्व के सभी विधान हैं; जल की एक बूंद में अनंत अर्णवों के रहस्य छिपे हुए हैं। तुम्हारे एक स्वरूप में सत्ता के सभी स्वरूप उपस्थित हैं।

—खलील जिब्रान

भाषा और हिंसा **पृष्ठ 26 का शेष**

प्रभुत्व के जरिए ही आम लोगों के दिलो-दिमाग में छा जाने की कोशिश कामयाब होती है। इसके माध्यम से जहां एक ओर बहुराष्ट्रीय-पूंजी के प्रति आकर्षण पैदा करने की कोशिश की जाती है वहीं देशज संस्कृति और परंपरा के प्रति घृणा और उपेक्षा का भाव पैदा करने की कोशिश की जाती है। ऐसी भाव-दशाएं निर्मित की जाती हैं कि हमें स्वयं ही लगे कि हमारी संस्कृति और परंपराएं हेय हैं। भाषाई वैसाखी पर खड़े मीडिया द्वारा इस तरह सांस्कृतिक आक्रमण कर बहुराष्ट्रीय-पूंजी के प्रति अनुकूलन की प्रक्रिया प्रच्छन्न एवं सूक्ष्म होती है। इसके खिलाफ संघर्ष आपसी टकराहट पैदा करते हैं।

देशज संस्कृति को छोड़ हम पराई संस्कृति और आदतों के इस कदर अभ्यस्त हो जाते हैं कि हम सांस्कृतिक तौर पर खोखले हो गए हैं, यह एहसास भी खत्म हो जाता है।

भाषा में हिंसा और भाषा द्वारा हिंसा के अनेक प्रत्यक्ष और प्रच्छन्न रूप हैं। जाने-अनजाने आम आदमी इन रूपों का शिकार होता ही है। और अब तो मीडिया द्वारा भाषाई ब्रह्मास्त्र के द्वारा सांस्कृतिक आक्रमण के जरिए संस्कृतियों के बीच लड़ाइयां की जा रही हैं, यह सर्वविदित है। ❖

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा

प्रधान कार्यालय : 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता–1

फोन : 22357956

महासभा के 89वें वार्षिक अधिवेशन की सूचना

महासभा का 89वां वार्षिक अधिवेशन आगामी मिति माघ शुक्ला 6 शुक्रवार दिनांक 7 फरवरी, 2003 को सायं 7 बजे तेरापंथ भवन, ठाकुर कॉम्प्लेक्स, कांदिवली (ईस्ट), मुंबई 400101 में होगा जिसमें निम्न विषयों पर विचार होगा—

- ❖ महासभा के 88वें वार्षिक अधिवेशन की कार्रवाई का पठन व स्वीकृति।
- ❖ महासभा के 89वें अधिवेशन पर महामंत्री के वार्षिक प्रतिवेदन पर विचार व स्वीकृति।
- ❖ महासभा के हिसाब परीक्षक द्वारा अंकेक्षित (1 अप्रैल, 2001 से 31 मार्च, 2002 तक के) आय-व्यय लेखा की स्वीकृति।
- ❖ आए हुए प्रस्तावों एवं सुझावों पर विचार।
- ❖ विविध—अध्यक्ष महोदय की अनुमति से।

महासभा के वार्षिक अधिवेशन में सभी सदस्यों की उपस्थिति सादर प्रार्थित है।

तरुण सेठिया
महामंत्री

हार्दिक शुभकामनाओं सहित :

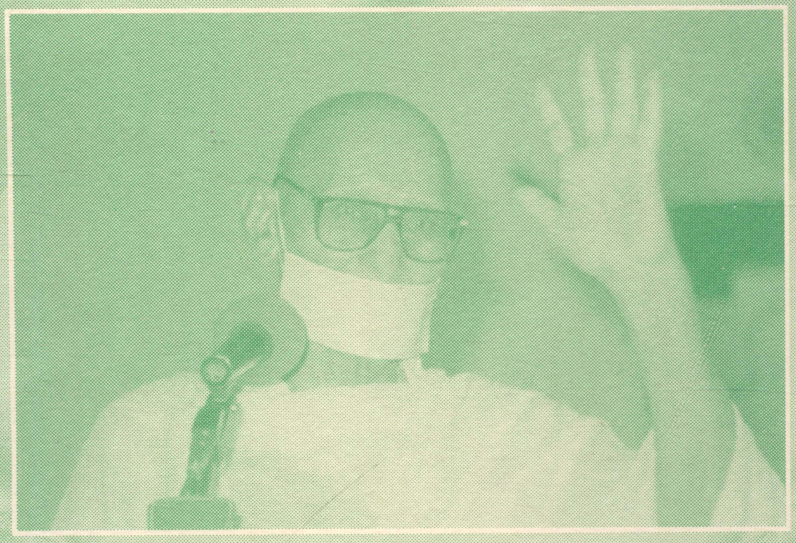

हेमराज शामसुखा

विनीत टेक्सफैब लिमिटेड

101, मामुलपेट, बंगलौर 560053

फोन : 2872355, 2871754

We owe it to you Customers !

It is easy to be No. 1, but difficult to remain there. But, we have been doing it for the past 5 years with our dedicated services and thanks to the invaluable support & trust in us by our valued customers. With promptness in-built, we have been serving the Indian Industries tirelessly against their requirements of **Bearings, Grease, Seals, Blocks, Sleeves & accessories** and **a variety of Maintenance Products** and **Condition Monitoring systems of SKF.** The New Millennium is on; an era that will bring forth a fresh batch of discoveries, newer wonders in technology, a greater fillip to standards of life as a whole. Rest assured, Premier (India) Bearings Limited will remain very much a participant to this absorbing, all-engaging process and will be there with you to meet your requirements.

SKF

Bearing is not our only business.

CR

Premier (India) Bearings Limited

(India's No. 1 SKF Industrial Distributors)
25 Strand Road, 4th Floor, Calcutta 700 001, Ph- 220-1926/ 0640, Fax- 2485745, Email-pibl@vsnl.com

Branches at - Mumbai, Chennai, Bangalore, New Delhi, Chandigarh & Haldia

भँवरलाल सिंघी, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1 के लिए जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं सांखला प्रिण्टर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।